

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182947

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Pr. 20/11

Accession No. 164192

551H

15/12/2024

20/11/2024

This book should be returned on or before the date
marked below.

*Approved for Bhushan Examination of
Punjab University.*

कमलमणि ग्रंथमाला—६ Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, O. U.
साहित्य लड़ी—६

हिंदी साहित्य का इतिहास



लेखक—

ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०

Hindi Samachar

OSMANIA UNIVERSITY

सोल-एजेंट.....

हिंदी-साहित्य-कुटीर, काशी ।



सं० १६८६ प्रथम आवृत्ति १०५०
सं० १६६४ द्वितीय आवृत्ति १२५०
सं० १६६६ तृतीय आवृत्ति १५००
[Printed on 28 lb. white paper]

मुद्रक—

श्रीनाथदास अग्रवाल.
टा इ म—टे बु ल प्रे
बुलानाला, बनारस ।

विषय-सूची

हिंदी भाषा तथा उसका विकास	...	...	१
गद्य साहित्य का विकास—आदि या वीरगाथा काल			१५
पूर्व-मध्य या भक्ति-काल	...	...	३३
प्रेमप्रधान निर्गुण-भक्ति-शाखा	...	...	४८
सगुण भक्ति-धारा—रामावत-शाखा	...	...	५६
कृष्ण-भक्ति-शाखा—सगुणधारा	...	...	७१
उत्तर-मध्य-काल या रीति-काल	...	...	८६
आधुनिक-काल	...	...	११५
खड़ी बोली हिंदी कविता	...	...	१२६
गद्य साहित्य का विकास	...	...	१४६
गद्य साहित्य का वर्तमान काल	...	...	१७८



भूमिका



इह लो॒क की सभी बा॒तों को अनित्य क्षणभंगुर समझनेवाले इस देश के विद्वानों, सुकवियों, योगियों तथा साधकों ने अपने विषय में यदि कुछ भी लिखने का प्रयास नहीं किया है, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। वे सर्वदा परलोक तथा अचिंत्य, असीम, अगोचर परमेश्वर की चिंता में मग्न रहते थे। शास्त्रोक्त नियमों के कारण बाध्य होकर वे कभी-कभी नाटक, चंपू आदि में अपना नामोल्लेख कर देते थे। यही कारण है कि हिंदुओं के सर्वमान्य आर्ष ग्रंथों तक के रचेता, रचनाकाल आदि का इधर-उधर से जोड़-तोड़ लगाकर अंदाजा लगाया जाता संस्कृत-साहित्य से प्राचीन तथा विशद साहित्य का इतिहास, तो कोई भी उसी का समय दो सहस्र पहले बतलाता है तो दूसरा तर्कों की मार से उसे खिसकाते हुए आठ-छ शताब्दी ही प्राचीन निश्चित-सा कर डालता है। एक इतिहासज्ञ जिस बात के निश्चित होने का दावा करता है उसी का दूसरा सबूत पर सबूत भिड़ाकर खंडन कर डालता है। यही हालत प्रायः हिंदी-साहित्य के इतिहास की भी है और क्यों न हो, आखिर हिंदी संस्कृत की सुपुत्री ही है।

संस्कृत में जिस प्रकार सुभाषितों के संग्रह प्रस्तुत किए जाते

थे, उसी प्रकार हिंदी में भी कई संग्रह प्राप्त हैं। सबसे पहिला संग्रह कालिदास का हजारा है, जिसका संग्रह-काल सं० १७१५ के लगभग है। यह ग्रंथ शिवसिंह के देखने में आया था पर अब प्राप्त नहीं है। भक्त कवियों के भजन संग्रह छोटे तथा बड़े बहुत मिलते हैं। लल्लूलालजी का सभा-विलास संग्रह ही है। राग-कल्पद्रुम एक विशद संग्रह ग्रंथ है, जिसमें गेय तथा श्रव्य दोनों पद्यों का संकलन हुआ है। रसनिधि ने रसनिधि-सागर तैयार किया था, जिससे छाँटकर रतन-हजारा संकलित हुआ था। अच्युतलहक का विजयहजारा तथा हफीजुल्लाखाँ का हजारा दोनों बाद के संग्रह हैं तथा प्रकाशित हो चुके हैं। इन सब में दोहे, सबैये, तथा कवित्तों का आधिक्य है। ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी के रसचंद्रोदय में २४२ कवियों की कविता का सन् १८६३ ई० में संग्रह हुआ था। गोकुल प्रसाद कायस्थ ने सन् १८४६ ई० में दिग्विजय-भूषण में १६२ कवियों के पद्य उद्धृत किए हैं। भारतेन्दुजी ने सुंदरी तिलक में चुने हुए सबैयों का संग्रह किया है। मन्नालाल द्विज ने सुंदरी-सर्वस्व, शृंगार-सुधाकर तथा शृंगार-सरोज तीन संग्रह अयोध्या के महाराज के आश्रय में प्रकाशित किया था। अयोध्या-नरेश के रस-कुसुमाकर में भी अच्छे अच्छे पदों का संग्रह है। नवीन कृत बृहत् संग्रह सुधासर का कुछ अंश बा० जगन्नाथदासजी रत्नाकर ने प्रकाशित कराया था। इसी तरह का एक संग्रह परमानंद ने भी किया था, जो हजाराही के नाम से प्रकाशित हुआ है। ठा० भूरिसिंह का विविध-संग्रह तथा पं० नकछेदी तिवारी का

भड़ौआ-संग्रह, होली-गुलाला आदि भी प्रकाशित हो चुके हैं । इस प्रकार के अनेक अन्य संग्रहों के सिवा सूदन आदि कितने ही कवियों ने अपनी रचनाओं के आरंभ में पूर्व के कवियों का उल्लेख किया है । इस प्रकार के उल्लेखों तथा संग्रहों से केवल इतना ही निश्चित होता है कि अमुक कवि इस काल के पहिले हुआ था । इसके सिवा इन सब से साहित्येतिहास के लिखने में और कुछ सहायता नहीं मिलती ।

उक्त संग्रह-ग्रंथों के सिवा नाभादास का भक्तमाल, ध्रुवदास की भक्तनामावली, चौरासी और दो सौ वैष्णवन की वार्ता आदि और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज की रिपोर्टें, बेसकट, क्रुक, मैकौलिफ आदि के ग्रंथों से भी हिंदी साहित्य के इतिहास के लिखने में काफी सहायता मिलती है ।

साधारणतः यही प्रसिद्ध है कि ठाकुर शिवसिंह सेंगर का वृत्त-संग्रह 'शिवसिंह सरोज' ही पहिला ग्रंथ है, जिसमें लगभग एक सहस्र कवियों की कविता के संकलन के साथ उनका कुछ परिचय भी दिया गया है । सरोज सं० १६३४ में प्रस्तुत किया गया था पर इसके पाँच वर्ष पहिले पं० महेशदत्त शुक्ल ने भाषा-काव्य-संग्रह संकलित किया था, जिसमें अवधी के कवियों का अधिक वर्णन है । बा० राधाकृष्ण दास की सम्मति में सरोज से इसमें समय-निर्णय अधिक उत्तमत्ता से किया गया है । सरोज के आधार पर उसके पश्चात् डा० सर जार्ज ग्रियर्सन का 'मॉर्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नदर्न हिंदुस्तान' नामक विशद कवि-

वृत-संग्रह सन् १८८६ ई० में निकला, जिसमें कुछ कवियों की रचनाओं की आलोचना भी की गई है। भारतेन्दु बा० हरिश्चंद्र 'हिंदी भाषा' लिख चुके थे तथा बा० बालमुकुंद गुप्त ने हिंदी साहित्य का छोटा इतिहास लिखा था। इसके बाद सन् १९०० ई० से काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज आरंभ की, जिसमें अब तक सहस्रों पुस्तकों की नोटिसें ली जा चुकी हैं। पहिले वार्षिक रिपोर्ट छपती थी पर अब सन् १९०६ ई० से तीन-तीन वर्षों की रिपोर्ट छपने लगी है। इस तरह की आठ रिपोर्टों के प्रस्तुत होने पर उसका आधार लेते हुए अपने निजी अन्वेषण तथा महत् प्रयास से पं० गणेश बिहारी मिश्र, रायबहादुर पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० तथा पं० शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० ने तीन भागों में मिश्रबंधु-विनोद नामक बहुत बड़ा ग्रंथ तैयार किया। इसमें वर्तमान काल के कवियों तथा लेखकों का भी विवरण सम्मिलित है और पहिले पहिल काल-विभाग करके तथा मुख्य मुख्य कवियों पर आलोचनाएँ सम्मिलित कर हिंदी साहित्येतिहास की अभाव-पूर्ति की गई है। इसका परिमार्जित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण भी हाल ही में प्रकाशित हो चुका है। इसके पहिले सं० १९६७ में उक्त मिश्र-बंधुओं ने 'नव-रत्न' प्रकाशित कराया था, जिसमें सूर, तुलसी, चंद, देव, बिहारी केशव, मतिराम, तथा भारतेन्दु का विस्तृत विवरण आलोचना सहित दिया है। सन् १९०० ई० के लगभग मुं० देवीप्रसाद मुंसिफ ने भी कई पुस्तकें महिला-मृदुवाणी आदि तथा बड़े-बड़े लेख

लिखकर बहुत से कवियों तथा कविनित्रियों का परिचय दिया है। इसके अनंतर सन् १९०६ तथा सन् १९१४ ई० में रायबहादुर बा० श्यामसुंदर दास बी० ए० लिखित कोविद-रत्नावली दो भागों में निकली, जिसमें ८० वर्तमान कवियों तथा लेखकों की जीवनियाँ संग्रहीत थीं। आचार्यवर पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने हिंदी की उत्पत्ति नामक छोटी पुस्तिका लिखी। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सं० १९७४ तथा १९८३ में कविता-कौमुदी के दो भाग प्रकाशित किए, जिनमें १३८ कवियों का वृत्त दिया है। सन् १९२० ई० में मि० की ने 'हिंदी लिटरेचर' नाम से एक छोटी पुस्तक अंग्रेजी में तैयार की, जिसके दो वर्ष पहिले इसी भाषा में मि० श्रीवस् की भी एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी।

सं० १९८४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सभा के शब्दसागर के समाप्त होने पर उसकी भूमिका में हिंदी भाषा तथा उसके साहित्य के इतिहासों का वर्णन करना आवश्यक समझा गया। भाषा का इतिहास उसके प्रधान संपादक रायबहादुर बा० श्यामसुंदरदास बी० ए० ने प्रस्तुत किया तथा साहित्य का इतिहास पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा। सभा ने इस साहित्य के इतिहास को अलग पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया, क्योंकि इस कार्य से प्रचार तथा लाभ दोनों की आशा थी। रायबहादुर साहव ने भी पहिले भाषा का इतिहास अलग छपवाया पर बाद को उसमें साहित्य का इतिहास सम्मिलित कर 'हिंदी भाषा और साहित्य' विशद ग्रंथ इंडियन प्रेस से प्रकाशित कराया, जिस प्रेस से सभा की प्रायः

सभी पुस्तकें छपती तथा बिकती हैं। इन दोनों ग्रंथों में सजधज, चित्र, जिल्द, कागज छपाई आदि के ख्याल से दूसरी ही बढ़ चढ़ कर है। इसमें भाषा का इतिहास भी अधिक है और इसके सिवा ललित कलाओं की स्थिति नामक एक पूरा अध्याय भी बढ़ गया है। सभा के ग्रंथ में उद्धरण मात्र अधिक है। कवियों के परिचय तथा आलोचनाएँ प्रायः दोनों में थोड़े हेर फेर के साथ एक ही सी हैं।

उक्त दोनों पुस्तकों के साथ साथ दो अन्य बड़े बड़े इतिहास भी प्रकाशित हुए। एक सन् १९३० ई० में लाहौर से 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक पं० सूर्यकांत त्रिपाठी एम० ए० साहित्याचार्य हैं। यह भी छः सौ पृष्ठों का पोथा है। मूल पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसके लेखक ने संस्कृत के विद्वान् होने के कारण म्वतः कवियों की रचनाएँ कम देखी हैं और दूसरों की रायों का अधिकतर संकलन किया है। पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम० ए० का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' सन् १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। यह सबसे बड़ा पोथा है और मूल्य में राय बहादुर साहब की पुस्तक से भी आठ आने बढ़ गया है। पर पुस्तक की सज-धज, छपाई, सफाई में उससे कहीं घटकर है, चित्र-विहीन है, पर पृष्ठ-संख्या में ड्योढ़ा हो गया है। एम० ए० के विद्यार्थीगण इसकी विषय-सूची ही पढ़कर उकता जायँगे। इसी समय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध जी ने पटना विश्वविद्यालय में

दिए हुए व्याख्यानों को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया, जो सात सौ पृष्ठों से अधिक में समाप्त हुआ है। डा० धीरेंद्र वर्मा एम० ए० ने सन् १९३३ ई० में हिंदी भाषा के इतिहास को पूरा किया पर यह साहित्य का इतिहास नहीं है। ❀

उक्त वृहत् इतिहास ग्रंथों के रहते हुए भी ऐसे छोटे इतिहास का अभाव था, जो विचारियों तथा जनसाधारण के लिए अधिक उपयोगी तथा सुलभ होता। इसी विचार से सं० १८८६ वि० में लगभग दो सौ पृष्ठों के एक इतिहास लिखने का विचार निश्चित कर इस पुस्तक का लिखना आरंभ किया गया। दो को छोड़ प्रायः सभी पूर्वोद्धृत ग्रंथों की सहायता ली गई और अन्य कार्यों के

❀ सं० १९९१ वि० में पं० कृष्णशंकर शुक्ल एम० ए० ने 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया, जिसमें वर्तमान काल के कवियों तथा लेखकों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रसिकेश ने हिंदी गद्य शैली का विकास लिखा, जिसमें गद्यलेखकों ही का विवरण है। सं० १९९५ में श्रीरामकुमार वर्मा एम० ए० का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ, जिसमें प्रायः आठ सौ पृष्ठों में भक्तिकाल तक के साहित्यकारों का विस्तृत विवरण तथा आलोचना दी गई है। इसके दूसरे भाग में वर्तमान काल तक का इतिहास रहेगा। इसी वर्ष इस भूमिका-लेखक ने 'हिंदी-नाट्य-साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें हिंदी नाट्यकारों तथा नाटकों का वर्तमान काल तक का विवरण तथा आलोचना दी गई है।

बोध तथा कौटुम्बिक आपत्तियों को सहते हुए भी यह कार्य किसी प्रकार समाप्त किया गया। इसी बीच दो इसी प्रकार के अन्य छोटे इतिहास भी प्रकाशित हो गए, जिनमें दोनों ही पूर्वोक्त दो विशद इतिहास ग्रंथों के संक्षिप्त संस्करण मात्र हैं।

इस पुस्तक के आरंभ में केवल एक अध्याय में संक्षेप में हिंदी भाषा का विकास लिखा गया है, जो साधारतः विद्यार्थियों के लिए काफी है। खड़ी बोली हिंदी की कविता पर इसमें अलग एक अध्याय दिया गया है और जैसा कि अब तक होता आया था, ब्रजभाषा पद्य-साहित्य के साथ-साथ ही इसका उल्लेख मात्र करके नहीं छोड़ दिया गया है। इस पुस्तक में उद्धरणों का अभाव है, जिसकी पूर्ति के लिए विचार है कि एक दूसरे भाग में इस पुस्तक में उल्लिखित कवियों की काफी कविता दी जाय, जिससे पाठकगण स्वयं उन रचनाओं पर स्वतंत्र रूप से विचार कर सकेंगे। खड़ी बोली भाषा के विकास तथा उसके साहित्य के इतिहास पर भी एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने का विचार है, जिसके लिए साधन एकत्र किया जा रहा है। आगे हरेरिच्छा बलीयसी।

जिन ग्रंथों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली गई है, उन सब के विद्वान् लेखकों का मैं आभारी हूँ और उनके प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूँ। मित्रवर पं० केदारनाथ पाठक जी की घोर स्मरणशक्ति से जो सम्मति मुझे बराबर मिलती रही है उसके लिए उनका मैं अनुगृहीत हूँ। साथ ही हिंदी-

साहित्य के एक आवश्यक अंग, आयुर्वेदिक विज्ञान, की पूर्ति में दत्तचित्त पं० हनूमान प्रसादजी वैद्य के प्रति धन्यवाद प्रकट करना अत्यावश्यक है, जिन्होंने यथावसर अपनी सम्मति देते हुए इस पुस्तक के सुचारु रूप से प्रकाशित होने में पूरी सहायता की है ।

शिवरात्रि }
सं० १९८६ }

ब्रजरत्नदास

तृतीय आवृत्ति की भूमिका

इस छोटे से 'हिंदी साहित्य के इतिहास' का हिंदी प्रेमियों ने इस प्रकार स्वागत किया है और अपनाया है कि शीघ्र ही उसकी तृतीय आवृत्ति निकालने का अवसर आ गया है। कई विश्व-विद्यालयों ने भी इसे अपने पाठ्यक्रम में स्थान देकर इस पर विशेष कृपा की है। इन कारणों से यह विचार हो रहा है कि इसका एक बड़ा संस्करण, जिसमें उदाहरण भी सम्मिलित किए जायँ, प्रकाशित किया जाय तो उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए वह विशेष उपयोगी होगा।

अब तक खड़ी बोली हिंदी के साहित्य का इतिहास अलग स्वतंत्र रूप से नहीं लिखा गया है और उसकी अब बहुत आवश्यकता है। इस इतिहास में एक परिच्छेद अलग इस पर लिखा गया है पर वह अति संक्षेप में है। इसलिए इस आवश्यकता को समझकर पहिले इस प्रकार के इतिहास लिखने का श्रीगणेश कर दिया गया है और आशा है कि शीघ्र ही वह प्रकाशित हो कर पाठकों के पास पहुँच जायगा।

आषाढी पूर्णिमा }
सं० १९६६ वि० }

ब्रजरत्नदास

हिंदी-साहित्य का इतिहास



पहिला परिच्छेद

हिंदी भाषा तथा उसका विकास

प्रत्येक भाषा के इतिहास की हृदयव्राहिता तथा मनोरंजकता उसके जोन्ने-वाले देश या जाति के राजनैतिक इतिहास के अनुसार ही होती है। यदि वह जाति या देश अत्यंत विषय प्रवेश प्राचीन है तथा उसने अनेक राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक विप्लव और उलटफेर देखे हैं, तो वहाँ की भाषा में भी उसी प्रकार के अनेक परिवर्तन दिखलाई पड़ेंगे, जिसका इतिहास अवश्य ही बहुत चिन्ताकर्षक तथा अनुरंजनकारी होगा। हमारे भारतवर्ष का भाग्य अत्यंत ही परिवर्तनशील रहा है और उसमें इतने प्रकार के विप्लव हुए हैं कि आज उसका सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखने का साधन ही नहीं बच रहा है, पर जो कुछ लिखा गया है वह भी किसी देश के इतिहास से कम मनोहारी तथा कौतूहल-जनक नहीं है। अनेक नवागन्तुक जातियों के संसर्ग बराबर होते रहे, कितने धार्मिक द्वंद्व मचे तथा सामाजिक उलटफेर हुए। नांप्रदायिक मतमतांतर और झगड़े भी खूब हुए। इन सभी बातों की भारतीय भाषाओं पर पूरी-पूरी छाप

पड़ी है और उनके इतिहास इन्हीं कारणों से बहुत ही हृदयाकर्षक हो उठे हैं। नवागंतुकों के विचारों तथा भावों के आदान-प्रदान से और धार्मिक तथा सामाजिक हेरफेर से गढ़े गए शब्दों से शब्दावली में बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। यदि कुछ शताब्दियों का बीच देकर किसी भाषा के नमूने मिलान किए जायँ तो उनमें कभी-कभी ऐसी विभिन्नता दिखलाई पड़ती है कि देखकर आश्चर्य होता है। इन सबका क्रमविकास जरूर मनोहर होता है।

भारत की जिस प्राचीनतम भाषा का अब तक पता चला है, वह ऋग्वेद में प्राप्त है। इसमें कुछ ऋचाएँ जब कंधार-नरेश दिवोदास

का पता देती हैं तब कुछ सिंधुनद के तटस्थ राजा

प्राचीन भाषाएँ सुदास का उल्लेख करती हैं। तात्पर्य यह कि समग्र

ऋग्वेद की रचना क्रमशः बहुत समय के बीच में

हुई थी और इसीसे उसके अनेक अंशों की भाषा में विभिन्नता भी पाई जाती है। भाषा की इस विषमता से जब अनेक स्थानों के निवासियों को आपस की बात समझने में कुछ काठिन्य बोध पड़ने लगा, तब उन लोगों ने एक सार्वदैशिक भाषा के गढ़ने का निश्चय किया और इस निश्चय के अनुसार शब्दानुशासन होने पर चलती हुई भाषा सुधर कर संस्कृत हो गई। यह टकसाली भाषा साहित्य का काम देने लगी और शिष्ट समाज में इसका प्रयोग होने लगा। इसके पहले इस शिष्ट भाषा को संस्कृतावाक् कहते थे, पर पीछे से संस्कृत ही इसके लिए रूढ़ि हो गया। भाषा की इस संस्कृति के होने पर भी पहिले की भाषाएँ बनी रहीं और

उनका अपने अपने प्रांतों तथा स्थानों में स्वतन्त्र विकास होता गया। यद्यपि संस्कृत साहित्यिक तथा शिष्ट समाज की भाषा हो गई थी पर जनसाधारण में प्रांतिक बोलियाँ ही काम में लाई जाती थीं। आर्यों के भारत भर में फैल जाने पर इन बोलियों की संख्या भी बढ़ती गई क्योंकि स्थानिक विशेषताओं का प्रभाव उनपर पड़ता रहा था। बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रचारकों ने अपने अपने उपदेशों के लिए संस्कृत भाषा को माध्यम न बनाकर जनसाधारण ही की बोली को ग्रहण किया, जिससे इन भाषाओं की बहुत उन्नति हुई। वैदिक भाषा का संस्कार कर जो भाषा बनाई गई वह तो संस्कृत कहलाई और प्रकृत भाषा, जिसे कोई कृत्रिम रूप नहीं दिया गया था, प्राकृत के नाम से पुकारी जाने लगी। यह अंतिम बोलचाल की भाषा थी और इसीसे प्रांतीयता के प्रभाव से इसके अनेक भेद हो गए। सबसे प्राचीन प्राकृत भाषा 'पाली' कहलाती है, जो आज से ढाई सहस्र वर्ष पहिले प्रचलित थी। यह तथा इसके भेदों के उदाहरण उस काल के शिलालेखों में पाए जाते हैं। इसके अनन्तर माहिन्यिक प्राकृत का समय आता है, जिसके चार मुख्य भेद हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध मागधी। महाराष्ट्री इनमें प्रधान थी और समस्त राष्ट्र में मान्य होने के कारण इसका यह नाम पड़ा था। शौरसेनी का ब्रजमंडल में और मागधी का बिहार प्रांत में प्रचार था। अर्द्ध मागधी वह थी, जो इन दोनों के बीच कोशल प्रांत में बोली जाती थी। पैशाची या भूत भाषा भी प्राकृत ही में परिगणित है। प्राकृत-काल के अनंतर अपभ्रंश का

समय आता है। जब प्राकृत भी साहित्यिक भाषा बनकर शिष्ट समाज ही के योग्य रह गई और जनसाधारण की बोलचाल की भाषा का परिवर्तनों के होने से स्वरूप ही बदल गया तब उसे ही अपभ्रंश (भ्रष्ट) भाषा कहने लगे। इस भाषा का यह नामकरण छठी शताब्दि में हो चुका था और इसमें साहित्यिक रचना भी होने लगी थी, इस कारण अवश्य ही इसके विकास का आरंभ इस काल से दो तीन शताब्दि पहिले हो चुका रहा होगा। भास तथा कलिदास की रचनाओं में इसका कुछ आभास मिलता है। पहिले यह अपभ्रंश शब्द उसी प्रकार प्रयुक्त हुआ जिस प्रकार अशिक्षितों की भाषा के लिए 'गँवारू' शब्द आजकल प्रयुक्त होता है। समय पाकर यह अपभ्रंश भाषा भी '... ..' हो चली और उसका स्वाभाविक प्रवाह भी भिन्नमार्ग पर चल पड़ा। कुछ ही समय में एक ऐसी भाषा बनी, जो एक ओर अपभ्रंश से और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं से मिलती जुलती है। हिंदी भाषा से जो भाषा इस प्रकार मिलती हुई बनी थी, उसी को कुछ विद्वानों ने 'पुरानी हिंदी' नाम दे रखा है।

आधुनिक भाषाओं का विवेचन कर विद्वानों ने उनके दो मुख्य विभाग किए हैं—अंतरंग तथा बहिरंग। पहिले के आए हुए आर्यगण की भाषा से संबद्ध भाषाएँ प्रायः आधुनिक भाषाएँ मध्यप्रदेश में बोली जाती हैं और बाद के आए हुए आर्यों की भाषा से संबद्ध भाषाएँ उनके चारों ओर काम में लाई जाती हैं। पहिले तो दोनों के उच्चारण में कुछ

भेद है। अंतरंग के दंत्य स का बहिरंग भाषावाले शुद्ध उच्चारण नहीं करते। वे उसे श या ह या च स के मेल-सा उच्चारण करते हैं। संज्ञाओं के रूप में भी कुछ भेद पड़ गया है। अंतरंग भाषाओं में विभक्तियों की आवश्यकता पड़ती है पर बहिरंग में उससे बहुत कम। अंतरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रिया से उनका पुरुष नहीं मालूम पड़ता पर बहिरंग से वचन तथा पुरुष दोनों स्पष्ट हो जाता है। यह सब भेद बहुत सूक्ष्म हैं और विशेष नियमित भी नहीं है, इसलिए इस विभाग-करण के औचित्य को विवाद-ग्रस्त ही समझना चाहिए। अंतरंग में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पंजाबी और गुजराती भाषाएँ मुख्य हैं। इनके सिवा पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी पहाड़ी भाषाएँ भी हैं। बहिरंग विभाग में दक्षिण की मराठी, पूर्व की बिहारी, बंगाली, आसामी तथा उड़ीया और पश्चिम की कश्मीरी, कोहिस्तानी, पश्चिमी पंजाबी तथा सिंधी भाषाएँ हैं। पूर्वी हिंदी वह है जिसमें दोनों अंतरंग तथा बहिरंग भाषाओं की विशेषताएँ मिलती हैं। इनमें हिंदी से संबंध रखनेवाली भाषाओं पर कुछ विचार किया जायगा।

इसका विस्तार दक्षिण-उत्तर हिमालय की तराई से लेकर मध्य-प्रदेश के उत्तरी भाग तक तथा पूर्व-पश्चिम सरहिंद से प्रयाग तक

है। इस बड़े भूभाग में हिंदी, ब्रजभाषा, कन्नौजी,

पश्चिमी हिंदी बुंदेली आदि प्रधान बोलचाल की भाषाएँ हैं।

हिंदी दिल्ली तथा मेरठ के आसपास बोली जाती

है और यही अब भारत की राष्ट्रभाषा मान ली गई है। इसी को

शुद्ध हिंदी या खड़ी बोली भी कहते हैं। इसी का एक भेदमात्र उर्दू है, जिसे आरंभ में उर्दू-हिंदी कहते थे अर्थात् वह हिंदी जो उर्दू (पड़ाव) में बोली जाती थी। हिंदी में फारसी अरबी शब्दों की संख्या तथा वाक्य-योजना बढ़ाते हुए क्रमशः उर्दू-हिंदी को मुसलमानों ने शुद्ध उर्दू बना डाला और अब दो एक अहम्मन्य विद्वान इस उर्दू-बेटी से फारसी अरबी शब्दों को वहिष्कृत कर खड़ी-बोली-माता का जन्म होना बतला रहे हैं। वर्तमान काल में यही हिंदी उत्तरी भारत के विशेष भाग की साहित्यिक भाषा हो रही है। इस भाषा का नया नामकरण हिंदुस्तानी है और यह अंग्रेजों द्वारा गढ़ा गया है। जिस कार्य के लिये आज से ६ शताब्दी पहिले उर्दू-हिंदी की नींव पड़ी थी, उसी कार्य के लिये आज इस हिंदुस्तानी भाषा का गढ़न हो रहा है। परन्तु उस समय देशीय हिंदी में भारत के नवागंतुकों की भाषा के शब्द मिलकर एक सुबोध्य माध्यमिक भाषा प्रकृत्या बन गई थी और जिसे इन नवागंतुकों ने यहाँ बसने पर तथा अपने देशों की कठिन भाषाओं को अपने बोलचाल के बिल्कुल उपयुक्त न पाकर शनाच्चियों से अपना रखा था। उसमें इधर ही प्रायः डेढ़ दो शताब्दी के बीच क्रमशः परदेशीय भाषाओं के शब्द तथा वाक्य-योजना बढ़ाते हुए उर्दू-भक्तों ने उसे हिन्दुस्तानियों के लिए प्रायः उतनी ही दुरूह बना डाला है, जैसी की फारसी भाषा है। अब पुनः इसी दुरूह वर्तमान उर्दू से कुछ अभारतीय कठिन शब्द निकालने का प्रयास कर हिन्दुस्तानी अर्थात् तेरहवीं से लगाकर सत्रहवीं शताब्दी तक

की उर्दू को पुनः आमंत्रित किया जा रहा है। परिवर्तनशील संसार में कुछ न कुछ हेर-फेर होते रहना चाहिए। उर्दू-हिंदी को पहिले दक्कनी या रेखता ही कहते थे, क्योंकि उर्दू का साहित्यिक आरंभ दक्षिण में हुआ था और उसमें कई भाषा मिली-जुली (रेखता) हुई थी। उर्दू नाम तो अभी कल का है। इसके उत्तर में 'हिंदी' शब्द ही को कुछ लोग उर्दू बतलाते हैं और इसमें का ईकार 'याये निस्वती' कहा जाता है। क्या वे कृपया बतलावेंगे कि "बशमशीरे हिंदी" में जिस याये-निस्वती का प्रयोग हुआ है उसी का "सौजनो रिश्तः ब हिंदी सूर्ह ताग" में प्रयोग हुआ है। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि याये-निस्वती-युक्त हिंदी का अर्थ 'हिंद का' (विशेषण) है और वह उस भाषा में संज्ञारूप में हिंद के निवासी का द्योतक है, भाषा का नहीं।

यह शुद्ध हिंदी पंजाब की ओर बढ़कर पंजाबी हो जाती है, पूर्व की ओर बढ़कर कन्नौजी तथा दक्षिण-पूर्व बढ़कर ब्रजभाषा बन जाती है। पश्चिम-दक्षिण बढ़ने पर यही हिंदी राजस्थानी का रूप धारण करती है। साहित्य की दृष्टि से इनमें ब्रजभाषा प्रधान है। कन्नौजी में साहित्य नहीं के समान है पर बुंदेली में कुछ साहित्य मिलता है।

बिहार प्रान्त तथा उसकी सीमा पर पश्चिम-पूर्व के कुछ भागों में और छोटा नागपुर में यह भाषा बोली जाती है। यह मागधी

अपभ्रंश से प्रसूत हुई है पर हिंदी ही में परिगणित होती है। मैथिली, मगही तथा भोजपुरी तीन

बोलियाँ इसके अंतर्गत हैं। प्रथम में मैथिलकोकिल विद्यापति ने

बिहारी

कविता की है और इसमें अच्छा साहित्य है। अंतिम दो कोरी बोलियाँ मात्र हैं। प्रथम दो में विशेष संबंध है और भोजपुरी अलग है। मैथिली मिथिलाक्षरों में लिखी जाती है, जो बंगाली के समान होते हैं और अन्य के लिए कैथी लिपि काम में आती है।

इसका विस्तार पश्चिमी हिंदी तथा बिहारी-भाषा-भाषी प्रान्तों के बीच के स्थानों में है। इसके अंतर्गत अवध, वघेलगढ़,

बुंदेलखंड, छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश का

पूर्वी हिंदी कुछ उत्तरी भाग है। इसमें अवधी, वघेली और

छत्तीसगढ़ी तीन बोलियाँ मुख्य हैं। प्रथम दो में

बहुत कम विभिन्नता है पर अंतिम में इन दो से विशेष अंतर है।

अवधी के सुकवि गोस्वामी तुलसीदास तथा जायसी के नाम ही उसके साहित्य की उत्कृष्टता तथा परिमाण के द्योतक हैं।

ऊपर भाषाओं का जो वर्गीकरण हुआ है, उनमें से जिन तीन का हिंदी से संबंध है, उनका कुछ विवरण दिया गया है। इन तीनों

भाषाओं के अंतर्गत कुछ बोलियाँ या उपभाषाएँ

उपभाषा राजस्थानी हैं, जो साहित्यिक हैं। इनमें गजस्थानी, ब्रजभाषा,

अवधी और खड़ी बोली मुख्य हैं। राजस्थान या

आधुनिक राजपूताने में राजस्थानी बोली जाती है। इसमें अंतरंग तथा बहिरंग दोनों भाषा-विभागों की कुछ विशेषताएँ मिलती हैं।

पहिले यहाँ पूर्वागत आर्यों की बस्ती थी, जो परागत आर्यों के आगे हटते हुए इधर आ बसे थे। बादको मुसल्मानी प्रभुत्व के गंगा के दोआबे में जम जाने पर वहाँ के निर्वासित राजवंश सपरिकर

इसी प्रांत में चले आये और इसी कारण यहाँ की भाषा में दोनों विभागों का मेल दिखलाई पड़ता है। राजस्थानी की चार बोलियाँ मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी हैं, जिनके अनेक भेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल कहलाता है। जयपुरी में भी कुछ साहित्य प्राप्त है, पर अन्य दो में कुछ नहीं मिलता।

इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रान्त का कुछ भाग, बबेलगंज, छोटा नागपुर और मध्यप्रदेश के कई भागों तक है।

अवधी इसके अंतर्गत अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी तीन बोलियाँ हैं। प्रथम दो में कुछ विभिन्नता नहीं है पर अंतिम पर उड़िया तथा मराठी का प्रभाव

पड़ने से कुछ भिन्नता आ गई है। साहित्यिक अवधी के मुख्य कवि गोस्वामी तुलसीदास जी हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में शुद्ध बोलचाल की अवधी रखी है। अवधी भी दो प्रकार की है—पूर्वी और पश्चिमी। पहिली गोंडे और अयोध्या में तथा उसके आसपास बोली जाती है और दूसरी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, जिस कारण पूर्वी अवधी ही शुद्ध अवधी है।

इस भाषा का मुख्य स्थान ब्रज है पर दक्षिण में करौली राज्य तक, पश्चिम में जयपुर तक, पूर्व में बरेली, बदायूँ, एटा आदि स्थानों तक तथा उत्तर में गुड़गाँव तक इसका प्रचार ब्रजभाषा, बुंदेली है। अंतरंग भाषाओं में सबसे प्रधान यही भाषा है और यह शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से

विकसित हुई है। इसी की एक शाखा बुंदेली है, जिसकी कुछ कुछ छाया ब्रजभाषा की कविता में बराबर मिलती है। यह बुंदेलखंड, ग्वालियर और मध्यप्रदेश के कुछ जिलों में बोली जाती है। इसका साहित्यिक नमूना आल्हखंड में मिलता है। महाकवि केशवदास बुंदेलखंडी थे और इसीलिए उनकी भाषा में बुंदेली का पुट यथास्थान बराबर मिलता रहता है।

मेरठ के आसपास आज से छ सौ वर्ष पहिले जो भाषा बोली जाती थी और जिसे मुसल्मान शासकों ने दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद अपने विचारों को खड़ी बोली हिंदी यहाँ के देशवासियों को समझाने के लिए माध्यम बनाया था, उसका नाम उन्हीं लोगों ने हिंदी या हिंदवी लिखा है। देशीय कविगण की रुचिपरंपरा की काव्यभाषा की ओर ही थी, इसलिए इस हिंदी में प्रायः कुछ भी प्राचीन कविता नहीं मिलती। शांगंधर पद्धति में चित्रालंकार के दो उदाहरणों में इसी हिंदी के कुछ अंश वर्तमान हैं। नवागंतुक गण इस परंपरा की रूढ़ि से विलग थे और इसी कारण फारसी के सुप्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने ब्रजभाषा जानने हुए भी इसी हिंदी में मनोरंजक पहेलियाँ लिखीं तथा खालिक्वारी कोष में अरबी फारसी के पर्याय इसी में दिए, क्योंकि ये ही उन आगंतुकों के काम आ सकते थे। अरबी फारसी के शब्द भी क्रमशः इस देशवालों को परिचित हो चले और उनका भी इस हिंदी में तथा काव्यभाषा में प्रयोग बढ़ने लगा। स्वभावतः मुसल्मानों द्वारा प्रयुक्त भाषा में फारसी-अरबी-भाषा के

शब्द अधिक रहते थे और जब यहाँ वाले उन शब्दों से विशेष परिचित हो चले तब वैसे शब्दों की संख्या भी अधिक हो चली। ऐसी मिश्रित हिंदी मुसलमानों के राज्य-विस्तार के साथ साथ भारत भर में फैलती गई और उसका यहाँ तक प्रभुत्व फैला कि आज वह भारत की राष्ट्रभाषा बन चुकी है। मुगल साम्राज्य काल में उत्तरी भारत में हिंदी का प्रचार खूब हो चुका था और हिंदुओं तथा मुसलमानों की बोलियों में इतनी ही विभिन्नता थी कि पहिले की भाषा से दूसरे की भाषा में फारसी अरबी शब्दों का मेल अधिक रहता था। उस समय की बनी हुई इस हिंदी में जो कुछ कविता प्राप्त है वह हिंदी-छंदशास्त्रादि अनुमोदित है और हिंदी कहलाती है। इस काल तक दक्षिण में भी मुसलमानी राज्य स्थापित हो चुके थे और वे अपने साथ इस हिंदी को दक्षिण भी ले गए थे। कारण यह कि यहाँ कई शताब्दी तक बस जाने से देशी मुसलमानों के लिए अरबी फारसी वैसी ही दुर्बोध हो चली थी, जैसी वह यहाँ वालों के लिए थी और उनकी बोलचाल की भाषा (मातृभाषा) भी यही मिश्रित हिंदी हो गई थी। उत्तर में हिंदी वातावरण के बीच मुसलमानगण यदि हिंदी में कविता करते थे तो वे इसी के अर्थात् संस्कृत के छंद शास्त्रादि ही का आश्रय लेते थे; पर जब दक्षिण में वे इस भाषा में कविता करने लगे, तब हिंदी के प्रभाव से दूर रहने के कारण उन लोगों ने फारसी छंदशास्त्रादि का अनुसरण किया और हिंदी से कुछ भिन्न एक नई साहित्यिक भाषा का प्रसार आरंभ हुआ। इस भाषा को वे रेख्तः (गिरी-पड़ी, मिली-जुली)

कहने लगे क्योंकि वह कोई एक शुद्ध भाषा न होकर दो के मेल से बनी हुई थी। इसका आरंभ सं० १६४० के लगभग हुआ था और इसके प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद इस रेख्ते की भाषा में रचा हुआ दीवान लेकर 'बली' उत्तर दिल्ली पहुँचे। इस 'शायरी' पर दिल्ली वाले ऐसे लट्ठ हुए कि इस 'दक्कनी' भाषा में कविता करना उनमें एक फैशन हो गया। उस समय तक इस प्रकार इस मिश्रित हिंदी का तीन नाम—हिंदी, रेख्ता और दक्कनी प्रसिद्ध हो चुका था और उसका साहित्य हिंदी से अलग मार्ग पर चल खड़ा हुआ था। इस मिश्रित हिंदी का जन्म उर्दू अर्थात् फौजी पड़ाव में हुआ था, इस लिए यह उर्दू-हिंदी कहलाई पर बाद को प्रायः एक शताब्दी से उर्दू ही इसके लिए रूढ़ि हो गया है।

अरबी फारसी मिश्रित उर्दू-हिंदी के अलग हो जाने पर हिंदी का मार्ग शुद्ध हो गया और वह शुद्ध हिंदी कहलाई। ब्रजभाषा भी हिंदी थी, जिसके रूप से शुद्ध हिंदी का रूप आकारांतों की विशेषता से भिन्न था तथा यह बोलचाल की भाषा थी, इसलिए इसका नाम खड़ी बोली हिंदी हुआ। इसको अंग्रेज विद्वानों ने 'हाई हिंदी' अर्थात् ऊँची हिंदी भी लिखा है पर यह इसके गाम्भीर्यपूर्ण रूप के लिए ही सार्थक है। यद्यपि खड़ी बोली के साहित्य का आरंभ छः-सात शताब्दी पहिले से हो चुका था पर वह बहुत ही कम, नाम मात्र को था। इसका वास्तविक आरंभ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी के समय से हुआ है।

हमारी हिंदी पर जिन जिन भाषाओं का प्रभाव पड़ा है, उनके

दो विभाग भारतीय अर्थात् स्वदेशी और अभारतीय अर्थात् विदेशी किए जायँगे । हिंदी से भिन्न भारतवर्ष की जो अनेक अन्यभाषाएँ

हैं, उनमें से कई की शब्दावली संस्कृत प्राकृतादि हिंदी पर विदेशी प्रभाव से होती हुई आई है और कुछ अन्यान्य भाषाओं के शब्द तथा वाक्ययोजना सीधे आ मिली हैं ।

द्रविड़भाषा के शब्द हिंदी में इसी प्रकार संस्कृत आदि से होते आए हैं और इनका प्रायः टवर्गी अक्षरों से आरंभ होता है । बंगला के अलता, भद्रलोग, चूड़ांत आदि, मराठी के लागू, बागू आदि, गुजराती के हड़ताल आदि अब नित्य प्रयुक्त हैं । फारसी तथा उसी के द्वारा अरबी, तुर्की आदि कई भाषाओं के शब्द हिंदी में प्रचुरता से मिल गए हैं और ऐसा मिल गए हैं कि वे सहज ही मुख से मातृभाषा के शब्दों के समान निकलते रहते हैं, जैसे परदा, हक, ज़मीन, गरीब आदि । यूरोपियन जातियों का संसर्ग भी बहुत दिनों से चला आ रहा है और उनकी भाषाओं के भी बहुत से शब्द इसी प्रकार हिंदी में मिलते जाते हैं, जैसे तौलिया, फुट, कमरा, नीलाम, लालटैन आदि । इन विदेशी शब्दों में बहुत से अपने शुद्ध रूप में और बहुत से विकृत होकर आ मिले हैं ।

भारत में लिखने की प्रथा बहुत प्राचीन है । सम्राट अशोक-वर्द्धन के शिलालेख आज से प्रायः ढाई सहस्र वर्ष पुराने हैं और

ब्राह्मी लिपि में लिखे गए हैं । इसी ब्राह्मी लिपि नागरी लिपि से आधुनिक नागराक्षरों की उत्पत्ति मानी जाती है ।

‘नित्याषोड़षिकार्षव’ के भाष्य सेतुबन्ध में भाम्हरानंद ने

इसका नाम नागर लिपि बतलाया है। देवनागरी का संचिप्त रूप ही नागरी है। इस लिपि का सबसे प्राचीन शिला लेख १० वीं शताब्दी के प्रारंभ का मिलता है और ऐसे शिलालेख गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना, मध्य भारत, युक्तप्रान्त तथा मध्यप्रदेश में बहुत मिलते हैं। बिहार तथा बंगाल में भी यही लिपि रही, जो बाद को कुछ परिवर्तित हो गई। पंजाब और कश्मीर में नागरी ही सी शारदा लिपि का प्रचार है। तात्पर्य यह कि नागरी लिपि का प्रचार दसवीं शताब्दी से वर्तमान समय तक प्रायः सारे देश में चला आता है और यही सार्वदैशिक लिपि है। उत्तरी भारत से भी पहिले अर्थात् आठवीं शताब्दी के दक्षिण के राष्ट्रकूटों के शिलालेखों की लिपि नागरी लिपि से बहुत मिलती जुलती है। वास्तव में वह नागरी ही है और समय की प्राचीनता के कारण उसमें कुछ भिन्नता है। इनसे भी प्राचीन सन् ७०६ ई० के गुजरात के राजा जयभट के दानपत्र में राजा का हस्ताक्षर 'स्वहस्तो मम श्री जयभटस्य' नागरी लिपि ही में है। ब्राह्मी लिपि तथा उसके बाद के इन नागराक्षरों के परिवर्तनों को देखने से ज्ञात होता है कि लेखकों ने अक्षरों को सुंदर बनाने तथा बिना कलम उठाए अक्षर पूरा करने का बराबर प्रयत्न किया है और बाद को उन अक्षरों का माथा बाँधने का प्रयास भी हुआ। इन सबसे वर्तमान काल की लिपि प्राचीन काल की लिपि से अधिक सुडौल, सुंदर और सुपाठ्य हो गई, पर जल्दी लिखी जाने की उसकी शक्ति का कुछ ह्रास अवश्य हो गया।

दूसरा परिच्छेद

पद्य साहित्य का विकास—आदि या वीरगाथा काल

(सं० ?—१४०० वि०)

भारत के अंतिम सम्राट महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ आर्यावर्त पर जो ऐतिहासिक अंधकार कई शताब्दियों के लिए छा गया था, उसी के बीच में भाषा का प्राकृत काल विषय प्रवेश अपभ्रंश की अंतिम अवस्था को पहुँच गया था और इस तिमिराच्छादन के नाश के साथ साथ जिस प्रकार चौहान, राठौर, तोमर आदि अनेक राजवंशों ने खंड खंड पर अपना आधिपत्य जमाया, उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रांतों में प्राकृत भाषा से विकसित कई देशीय भाषाओं के विकास का आरंभ हुआ। हमारी हिंदी का यद्यपि बहुत पहिले ही प्रचार हो चुका था पर उसके साहित्य का आरंभ इन्हीं राजवंशों के उत्थान काल से होता है। मुसलमानों का भारत पर आक्रमण सं० ६६३ वि० में पहिले पहिल सिंध की ओर से हुआ था, पर उधर की चढ़ाइयाँ क्षणिक थीं और इनका भारत की संस्कृति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। दसवीं शताब्दी से पश्चिम-उत्तर ओर से राजनवी, गोरी आदि की जो चढ़ाइयाँ होने लगीं वे अधिक स्थायी हुईं और उनका भारतीय आचार विचार आदि पर प्रभाव भी पड़ने लगा। यद्यपि भारतीय वीरगाण अपने राजनैतिक, सामाजिक

आदि परिस्थितियों के कारण एकमत होकर इन आक्रमणकारियों का संयुक्त रूप से सामना कर शत्रुओं को देश से बाहर नहीं कर सके पर असंगठित होकर भी अनेक वीरों ने जिस उत्साह के साथ शत्रु को विमुख करने का सतत प्रयत्न किया था, उनके उस युद्ध-कौशल तथा साहस का विवरण तत्कालीन कवियों ने बड़ी ही श्रेष्ठता से अपनी भाषा में किया है। वे कहते हैं—

के संघर्ष का वर्णन ही इस काल के वीरगाथाओं में भरा हुआ है और यह आदि काल इसी कारण वीरगाथा काल भी कहलाता है। इस काल की समाप्ति होती है उस समय, जब ये आक्रमणकारी बाहरी डाँकू मात्र न रहकर इसी देश में दृढ़तापूर्वक बस जाते हैं और जब उनकी कई पीढ़ियाँ यहीं मिट्टी में मिल जाती हैं। दो भिन्न धर्म तथा सभ्यता के समागम का एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यहाँ भी पड़ा और उस परिस्थिति के कारण यहाँ की भाषाएँ भी प्रभावान्वित हुईं। मुसलमान राजत्व-काल में हमारी भाषा, समाज तथा संस्कृति उस राजबंधन और शासन-प्रभाव से मुक्त हो गई, जो इसके पूर्व काल में बराबर बनी हुई थी, क्योंकि विदेशी राजे इन सबका उत्कर्ष चाहना तो दूर अपकर्ष ही करने में दत्तचित्त रहे। इससे इन सब में स्वच्छंदता तथा स्वतंत्रता का बोलबाला रहा। फारसी-शब्दों के शब्द, भाव आदि का और मुसलमान धर्म की कुछ विशेषता का भी हमारी भाषा पर असर मुसलमानों के आगमन काल ही से पड़ने लगा था, जिससे साहित्य क्षेत्र के अनेक विषयों को नई स्फूर्ति और प्रगति भी प्राप्त हुई।

इस आदि काल के आरंभ के पहिले ही से बौद्ध धर्म का भारत में हास होने लगा था । इसके पंडे स्थविर, भिक्षु आदि धर्म के आदर्श से च्युत हो रहे थे और प्रजा की उन पर आस्था नहीं रह गई थी । दक्षिण में शंकराचार्य ने इसके विरुद्ध तर्क उठाया और समस्त भारत में भ्रमण कर इस धर्म का एक प्रकार उन्मूलन कर डाला । बाद को अहिंसावाद के दौरेल्य को क्षत्रिय वीरों ने उठाने न दिया और इसलिए यह धर्म अब तक अपने जन्मदेश में पुनः पनपने न पाया । इस आदि काल में सनातन हिंदू धर्म बढ़ने लगा और उसमें अनेक भेद तथा शाखाएँ निकलीं, जातियाँ तथा उप-जातियाँ बनीं और आपस के फूट बढ़े । मुसलमानों के आने से एक नया धर्म और बढ़ गया तथा धार्मिक द्वंद्व भी बहुत कुछ तरकी कर गया । अस्तु, इन सब कथनों का सारांश यही निकला कि इस आदि काल में, हमारी हिंदी की उदयावस्था में, भारत में लड़ाई भिड़ाई, लूट मार, राजविप्लव आदि ही का आधिक्य था और सभी अन्य बातें पीछे पड़ गई थीं ।

हिंदी साहित्य का आविर्भाव प्राकृत काल की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से मानना ही समीचीन है । दूहा या दोहा कहने से इसी

भाषा के पद्य का उसी प्रकार ज्ञान होता था, जिस

अपभ्रंश या प्रकार गाथा से प्राकृत के पद्य का । यही अपभ्रंश

पुरानी हिंदी पुरानी हिंदी भी कही जाती है । यद्यपि इसके

प्राक्-निर्गत वगैरह प्राकृत-विज्ञान की आद्यों-शास्त्री

के अंत में लगता है पर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से, मुंज और

भोज के समय से, इसका प्रचार विशेष पाया जाता है। सिद्धाचार्य सरोजवज्र उपनाम सरह का समय सं० ८०० के लगभग है। इनका एक दोहा है—

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस ।

तहि बट चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उवेस ॥

जनश्रुति के अनुसार सं० ७७० के लगभग पुष्य नामक किसी बंदीजन ने एक अलंकार ग्रंथ लिखा था, जिसका और कुछ विशेष पता नहीं चलता। इनके अनंतर सरह के शिष्य शबरपाद और शबरपाद के शिष्य लुईपाद का समय आता है। सिद्धाचार्य भूसुर का समय सं० ९०० के लगभग है। इसी समय के लगभग सिद्ध डोम्भी तथा तिलपाद प्रज्ञाभद्र हुए। सं० ९९० वि० में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार ने “श्रावकाचार” नाम की पुस्तक बनाई थी, जिसका एक दोहा यों है—

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ साह ।

जो पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावइ पारु ॥

इस पद की भाषा विशेष प्रचलित रूप लिए हुए है। इनका दूसरा ग्रंथ दब्ब-सहाव-पयास (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) भी दोहों में है, जिसका माइल्ल धवल्ल ने प्राकृत में रूपांतर किया था। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादजी शास्त्री ने सहजिया संप्रदाय की कुछ पोथियों का संग्रह ‘बौद्ध गान ओ दोहा’ के नाम से किया है। इन्हें वे एक सहस्र वर्ष प्राचीन समझते हैं। उनमें कन्ह एक मुख्य कवि हैं, जिनकी कविता का एक पद्य यों है—

आह न गमइ; उह न जाइ । वे गिरहिअ तसु निच्चल पाइ ।

भगइ 'कन्ह' मन कहवि न फुटइ । निच्चल पवन धरिणि घर वत्तई ॥

सं० १०५० के लगभग नाडपाद तथा इनके शिष्य रत्नाकर शांतिपाद त्रिपुरी-नरेश कर्ण के आश्रित कवि हुए, जिन सबकी कविता के उदाहरण प्राकृत पिंगल में मिलते हैं । गुजरात के सोलंकी नरेश सिद्धराज जयसिंह (सं० ११५०-६६) और उनके भ्रातृपुत्र कुमारपाल के यहाँ हेमचंद्र नामक एक प्रसिद्ध जैन आचार्य थे, जिन्होंने 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' बनाया था । इसमें इन्होंने संस्कृत प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी समावेश किया है । अपभ्रंश के उदाहरण में जो दोहे इन्होंने दिए हैं, उनमें से एक दोहा यों है—

भला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कंतु ।

लजेजं तु बयंसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥

(हे बहिन, भला हुआ जो हमारा कंत मारा गया । यदि वह भाग कर घर आता तो मैं तुम समवयस्काओं में लज्जित होती ।)

हेमचंद्र ने 'कुमारपाल-चरित' नामक एक प्राकृत काव्य लिखा है जिसमें अपभ्रंश के भी पद्य दिए गए हैं । इसी प्रकार का एक ग्रंथ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' है, जिसे सोमप्रभ सूरि ने सं० १२४१ वि० में लिखा था । इसमें कुछ प्राचीन अपभ्रंश के दोहे भी संगृहीत हैं । एक दोहा लीजिए—

बेस बिसिद्धह बारियइ; जइबि मणोहर गत्त ।

गंगाजल पक्खालियवि सुणिहि कि होइ पवित्त ॥

(मनोहर गात होते हुए भी ऊपरी भेष : : : : में रे बचिए !
गंगाजल से धुली हुई कुतिया क्या पवित्र हो सकती है ।)

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग रचित 'प्रबंध चिंतामणि' एक ग्रंथ है, जिसमें प्राचीन राजाओं के आख्यानों का संग्रह है । इसमें प्राचीन दोहे भी, जो पहिले से प्रचलित चले आ रहे थे, संकलित किए गए हैं । मुंज तथा मृणालवती के आख्यान में कुछ बहुत पुराने दोहे अपभ्रंश के दिए गए हैं, जिनमें से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

जा मति पच्छइ संपजई सा मति पहिली होइ ।

‘मुंज’ भणइ मुणालवइ बिघन न बेढइ कोइ ॥

(किसी कार्य के पीछे जो मति पैदा होती है वह यदि पहिले होय तो, मुंज कहता है कि हे मृणालवती, उसे कोई विघ्न न सतावे ।)

सं० १३५५ वि० के आसपास नल्लसिंह भट्ट ने 'विजयपाल रासो' नामक एक ग्रंथ अपभ्रंश में लिखा, जिसमें सं० १०६३ के करौली के विजयपाल के युद्धों का वर्णन है । रणथम्भौर के प्रसिद्ध नरेश हम्मीर देव के एक सामंत राघवदेव थे । इनके तीन पुत्र गोपाल, दामोदर और देवदास थे, जिनमें मध्यम को शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण तीन पुत्र थे । यही शार्ङ्गधर एक सुप्रसिद्ध विद्वान् थे, जिनका आयुर्वेद का ग्रंथ प्रसिद्ध है । इनका एक संग्रह ग्रंथ 'शार्ङ्गधर पद्धति' है, जो प्रकाशित भी हो चुका है । इसमें संस्कृत ही के श्लोकों का संग्रह अधिक है पर कुछ शाबर मंत्र तथा भाषा-चित्रकाव्य भी हैं, जिनमें आधुनिक खड़ी बोली तक के टुकड़े भी मौजूद हैं । इन्होंने हम्मीररासो नामक एक काव्य भी रचा है, जो

अप्राप्य है। इसी नाम का जो एक दूसरा रासो मिलता है वह इनका नहीं है। 'प्राकृत पिंगल सूत्र' के कुछ उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें महाराज हस्मीरसिंह की युद्ध-यात्रादि का वर्णन है, जो असली हस्मीर रासो के पद हो सकते हैं। इसके अनंतर विद्यापति की कविता में कुछ पद अपभ्रंश के मिलते हैं, पर अपभ्रंश की परंपरा की यहीं समाप्ति हो जाती है। बोलचाल के लिए भाषा में परिवर्तन हो जाने पर भी बहुत दिनों तक परिवर्तित भाषा का साहित्य में उपयोग नहीं होता, इसका यह अपभ्रंश एक उदाहरण है। बोलचाल में प्रयुक्त न होते हुए भी अपभ्रंश कई शताब्दी तक काव्य-भाषा रूप में विद्यापति के समय तक जीवित बनी हुई थी।

जैसा लिखा जा चुका है, इस आदि काल में वीरगाथाओं ही का प्रचार अधिक रहा होगा, पर इस काल का जो साहित्य मिलता है वह बहुत कम है और उसमें भी संदिग्ध अंश

वीर गाथा कम नहीं हैं। काव्यभाषा की परंपरा भी ऐसी

चली आई है कि इस विषय में वह विशेष सहायता नहीं करती; क्योंकि उसमें शताब्दियों पहिले से प्रयोग से उठ गए हुए शब्द बराबर काम में लाए जाते हैं। विशेषकर अनुमान लड़ाया जाता है, जिसका फल यही देखने में आता है कि कभी कभी धुरंधर विद्वान भी अनुमान करने में चार चार शताब्दी तक का रचना-काल में फर्क डाल देते हैं। आदि काल के पुस्तकों की कमी उस काल की विशेषता है, क्योंकि एक तो यों ही लड़ाई भगड़े में रचना कम होती है और दूसरे रचना के बाद उनके नष्ट

भी होने का अवसर अधिक रहता है। उस काल की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति भी ऐसी थी कि देशीय राजे आपस ही में झगड़ते रहते थे और बाह्य-आक्रमणकारियों से संगठित होकर युद्ध नहीं कर सकते थे। जो कुछ हो, युद्ध-कौशल, रणचंडी-नृत्य तथा साहसिक कार्य खूब हो रहे थे और राजाश्रित कविगण अपने आश्रयदाताओं के यश फैलाने के लिए काव्य-रचना में लगे हुए थे। ऐसे अव्यवस्थित काल में वीर गाथाओं के सिवा अन्य रचनाएँ भी अवश्य हुई होंगी पर वे कम भी थीं और कुछ उनमें से नष्ट भी हो गईं। यही कारण है कि इस काल में वीर गाथा ही का प्राधान्य था। कविता राज्याश्रय पाकर पुष्ट होती है पर जब वह स्वतंत्र न रहकर किसी को प्रसन्न करने के लिए रची जाती है तब वह प्रायः मान-द-गिर्यलनाओं ही की अनुगामिनी हो रहती है और अपने ध्येय से नीचे गिर जाती है। इस कारण सच्चे वीरों की कम और साधारण पर उदार पुरुषों की स्तुति-अवली बहुत बढ़ जाती है। बाद के साधारण भाट, जिनमें कवित्व का बीज भी नहीं है, पुराने कवित्तों में नाम बदल कर पैसा कमाते हैं और ऐतिहासिक विवरणों में संदेह उत्पन्न कर देते हैं। यह सब होने पर भी उस काल की उच्च कोटि की असंदिग्ध कविता प्राप्त हैं और ये दो प्रकार की हैं—प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य। पहिले का सबसे अच्छा उदाहरण पृथ्वीराज रासो और दूसरे का बीसलदेव रासो है। प्राचीन प्रबंध काव्यों में जब प्रक्षिप्त अंश मिलता है तब मुक्तक की भाषा का रूप बहुत दिनों तक बराबर गाए जाने से बदल जाता है।

गीति काव्य का एक उदाहरण 'आल्हा' है, जिसका उत्तरी भारत में बहुत प्रचार है और जिस रूप में अब वह मिलता है, उसमें बहुत-सा परिवर्तन हो गया है ।

इस काल की सबसे पहिली प्राप्त पुस्तक दलपति-विजय कृत खुम्माण रासो है । सिंध की ओर से मुसलमानों का जो आक्रमण हुआ था, उसके एक शताब्दी बाद सं० ८७० वि० दलपति विजय में खलीफा अलमामूँ ने उसी तरफ से चढ़ाई की थी । चित्तौड़ के रावल खुम्माण द्वितीय (सं० ८७०-९००) ने, कहा जाता है कि, चौबीस युद्धों में इसे परास्त कर देश के बाहर कर दिया था । इस पुस्तक की इस समय जो प्रति मिलती है, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन दिया है, जो पीछे से किसी कवि द्वारा उसमें जोड़ा ज्ञात होता है ।

दूसरी पुस्तक बीसलदेव रासो गीति काव्य है, जिसकी रचना सं० १२१२ में हुई थी । कवि नरपति नाल्ह विप्रहराज चतुर्थ उप-नाम बीसलदेव का आश्रित तथा समकालीन था ।

नरपति नाल्ह उसने यह छोटा सा ग्रंथ लिखा है, जिसमें अपने आश्रयदाता के युद्धों का वर्णन न कर मालवे की राजकुमारी राजमती से उसके विवाह होने, उससे रूठ कर उड़ीसा जाने, विरह तथा लौटने आदि का वर्णन किया है । यह प्रेम-प्रधान है, पर एक प्रसिद्ध वीर के प्रेम का वर्णन होने से इसे भी वीर गाथाओं में स्थान मिल गया है । इसका बहुत सा अंश ऐसा है, जिससे यह बीसलदेव के बहुत दिनों बाद की रचना ज्ञात होती है,

पर हो सकता है कि ये अंश प्रक्षिप्त हों। यह गीति काव्य है, इसलिए ऐसा हो जाना विशेष संभव है। इसकी भाषा में भी इसी प्रकार का मेल हो गया है। अरबी फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। मौखिक साहित्य होने के कारण ऐसा हो जाना कुछ अनहोनी बात नहीं है और इसकी प्राचीनता प्रक्षिप्त अंशों को निकाल दिए जाने पर मान्य है।

चंदबरदाई हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका रचित पृथ्वीराज रासो भी एक विशालकाय महाकाव्य है। यह दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज के सामंत चंद तथा राजकवि थे। चंद भट्ट जाति तथा जगान गोत्र के थे। इनका जन्मस्थान लाहौर था और यह तथा पृथ्वीराज एक ही दिन जन्मे थे। इसी प्रकार मृत्यु भी इन दोनों की एक ही साथ हुई। यह कई शास्त्र के ज्ञाता तथा विद्वान् थे। अपने आश्रयदाता के यह मित्र, सखा तथा दरबारी सभी थे और इससे इनका युद्ध, आखेटादि सभी अवसर पर महाराज के साथ रहना अनिवार्य था। इस ढाई हजार पृष्ठों के वृहत् काव्य ग्रंथ में सभी छंद प्रयुक्त हुए हैं और इसका अंतिम भाग इनके पुत्र जल्हन द्वारा पूरा किया हुआ कहा जाता है। इस सबका उल्लेख रासो में है।

इस ग्रंथ में अग्निवंश की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्य-संस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के कैद तक का वृत्तांत दिया गया है। पृथ्वीराज का अपने माता-मह दिल्ली के तुर्गर-राज अनंग-

पाल की गोद जाना, कन्नौज के जयचंद का राजसूय यज्ञ, संयोगिता-हरण, युद्ध, गोरी की चढ़ाइयाँ और अंत में पृथ्वीराज का पकड़ा जाना सब विस्तार से वर्णित है। चंद कवि 'पुस्तक जल्हन हत्थ दे चलि गज्जन नृप काज' अर्थात् अपने पुत्र को ग्रंथ-पूर्ति करने का आदेश देकर वह गोर गए, जहाँ शब्दवेधी बाण से पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को मार डाला और स्वयं चंद के साथ मारे गये। इन सबके बीच अन्य राजाओं के आख्यान भी भरे पड़े हैं। इसमें आए हुए संवत तथा ऐतिहासिक घटनाएँ इतिहासके अनुसार प्रायः ठीक नहीं हैं, जिससे कुछ विद्वानों ने इसे कोरा जाल समझ रखा है। परंतु इतने बड़े ग्रंथ को एक दम ऐसा कह देना बड़े साहस का कार्य है। उदयपुर के विक्टोरिया मेमोरियल हाल में रासो की एक प्रति है, जिसके अंत में लिखा है 'राणा अमरेश की आज्ञा से बिखरे हुए रासो के अंशों को एकत्र किया।' हो सकता है कि चंद के बनाए हुए रासो की पांडुलिपि उस राजविप्लव में तितर बितर हो गई हो और उसमें बाद के चारणगण अपनी रचनाएँ जोड़ते चले गये हों। इसके बाद राणा अमरसिंह प्रथम के समय इन्हीं सब स्फुट अंशों का किसी कवि ने समय आदि में विभाग देते हुए

मिल जाते हैं, पर ऐसा भी सर्वत्र ठीक नहीं उतरता। साथ ही इतिहास-विरुद्ध बहुत सी घटनाएँ भी इसमें भरी हैं, जो प्रक्षिप्त

हो सकती हैं। तात्पर्य यह कि जिस रूप में यह रासो आज प्राप्त है उसका बहुत सा अंश जाली है और असल तथा जाल अलग करना अब एक प्रकार संभाव्य नहीं है।

नागौर में, कहा जाता है कि, पृथ्वीराज ने अपने राजकवि चंद को बहुत सी भूमि दी थी जहाँ अब तक उनके वंशज विद्यमान हैं। इन्हीं में एक नानूराम भट्ट हैं, जिन्होंने चंद से अपने समय तक का एक वंश-वृत्त तैयार किया है। चंद को चार पुत्र थे जिनमें जल्लचंद (स्यात् जल्हन) के वंशवाले नागौर में रह गए। सूरदास के कूट पदों पर साहित्य लहरी टीका में एक पद है, जिसमें सूरदास इन्हीं चन्द के वंशधर बतलाए गए हैं और उन तक की वंशावली नानूराम के वंशवृत्त से मिलती हुई है। चन्द की मृत्यु सं० १२४६ में हुई थी। इनका जन्म भी बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हुआ होगा।

पृथ्वीराज रासो में वीर रसकी प्रधानता होते हुए भी शृंगार रस प्रचुर रूप से विद्यमान है। अन्य रस भी बराबर आए हैं। वीरों की वीरता, युद्धस्थल तथा प्रेम के क्षेत्र, दोनों ही में दिखलाई पड़ती है। वीरगाथाओं में प्रेम गौण और वीरता-प्रदर्शन प्रधान रहता है या यों कहिए कि प्रेम-कथा दूसरे का साधन मात्र होकर रह जाती है। इस काव्य में कवि-कल्पना ही अधिक है पर वह सब इतिहास की दृढ़ भित्ति पर उठाई गई है और ऐसे कल्पना-प्रसूत प्रसंगों का अत्यंत मनोरंजक तथा मार्मिक वर्णन हुआ है, जिससे काव्य-कौशल के सभी अंगों का कवि का ज्ञाता होना मालूम पड़ता

है। जिस काल का यह सर्व-प्रधान महाकाव्य माना जाता है उस काल की सब विशेषताएँ इसमें मौजूद हैं। प्रायः सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग होने से ग्रंथ की मनोरंजकता बढ़ गई है और प्राचीनता के कारण दुरूह होते भी भाषा-सौष्ठव अपूर्व है। जीवन के सभी अंगों तथा भावों पर कवि की दृष्टि पहुँची है और उन सबकी अभिव्यक्ति ऐसी सुंदर उक्तियों के साथ की गई है कि देखते ही बनता है। इन्हीं सब गुणों से इसके रचेता के नाम से इस काल का नाम चंद-काल भी पड़ गया है।

महाराज पृथ्वीराज के प्रतिद्वंद्वी कान्यकुब्जेश्वर महाराज जयचन्द थे, जिनका राज्य प्रभूत ऐश्वर्य-धन-धान्य-पूर्ण था। इन्हीं का यश-कीर्तन केदार भट्ट ने 'जयचन्द-प्रकाश' में तथा मधुकर ने 'जयमयंक-जस-चंद्रिका' में किया है। उक्त दोनों ग्रंथ अप्राप्य

हैं और इनका केवल उल्लेख मात्र सिंघायच
केदार, मधुकर, दयालदास ने अपनी पुस्तक 'राठौड़ारी ख्यात'
जगनिक में किया है। उसने लिखा है कि आदि से लेकर

कन्नौज तक का वृत्तांत इन्हीं दो ग्रंथों के आधार पर संकलित किया गया है। पृथ्वीराज के दूसरे प्रतिद्वंद्वी चंदेल परमर्दिदेव उपनाम परमाल थे, जिनके महोबा राज्य के सामंत बनाफर वंशीय आल्ह और उदल थे। इन्हीं सुप्रसिद्ध वीरों के युद्धों का बर्णन जगनिक ने गीति काव्य में किया था, जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि सारे उत्तरापथ में इसका प्रचार हो गया। वस्तुतः जगनिक की जो रचना थी, वह तो अब अपने असल रूप में कहीं प्राप्त नहीं

है पर उसके आधार पर बहुत से आल्हागीत प्रचलित हैं, जो हिंदी-भाषी-प्रांशों में बराबर गाए जाते हैं। लिखित साहित्य न होकर मौखिक होने के कारण इसमें बहुत सी आधुनिक बातें मिल गई हैं। इन गीतों का संग्रह अब छप भी गया है। इन गीतों में आज बहुत है और जब इन्हें अलहैत वीर दर्प के साथ गाने लगता है, तब बहादुरों के हृदय उमगने लगते हैं।

इस काल की रचनाओं में वीरगाथाओं का प्राधान्य है और उनकी भाषा अपभ्रंश का अधिक मेल लिए हुए है।

इनके साथ कुछ अन्य स्फुट रचनाएँ भी हुई अन्य रचनाएँ हैं, जिनका विवरण यहीं देना उचित है। इन रचनाओं की भाषा में बोल चाल की भाषा का अंश ही विशेष है और जो नवांगंतुक मुसलमानों की कृति हैं, उनमें तो एक प्रकार शुद्ध बोलचाल ही की भाषा प्रयुक्त हुई है। ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि उनलोगों को केवल बोलचाल ही की भाषा से मतलब था और उसे ही वे सीख रहे थे। कुतुबअली ने सोलंकी जयसिंह को जो छंदोबद्ध प्रार्थनापत्र दिया होगा, वह उसी भाषा में रहा होगा, जो बोलचाल में काम आती रही होगी। उसे पत्र लिखने के लिए काव्य-परंपरा की भाषा सीखने का अवकाश नहीं रहा होगा। खुसरो की मुकरियों तथा पदों से भी यही ध्वनित हो रहा है। प्राचीनता के शायक विद्वान लोग ही अपनी भाषा में प्राचीन रूढ़ि के अनुसार चली आती शब्दावली रखने में आनंदित होते हैं। साधारण बोल-

चाल की भाषा केवल चलते गीत आदि के ही उपयुक्त समझी जाती थी। उस समय की पश्चिम की बोलचाल की भाषा का नमूना खुसरो की कविता में मिलता है।

अमीर खुसरो का सं० १३१२ में जन्म हुआ था और सं० १३८१ में इसकी मृत्यु हुई थी। फारसी का यह प्रसिद्ध कवि और

सुलेखक था। कहते हैं कि इसने कविता की

खुसरो निम्नानवे पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें अब केवल

बीस बाइस प्राप्त हैं। इसके समय में दिल्ली के

तख्त पर ग्यारह सुल्तान बैठे, जिनमें सात का यह स्वयं आश्रित

रहा था। संगीत का भी यह बड़ा प्रेमी था और गायन-वादन दोनों

में पटु था। विनोदप्रिय और मिलनसार भी था। जनसाधारण में

प्रचलित ढंग की तथा बोलचाल की भाषा में लिखी जाने के कारण

इसकी मुकरियाँ, पहेलियाँ, पद, गीत बहुत जल्दी सर्वजन-प्रिय हो

गए और उनका प्रचार आज भी कम नहीं है। हिंदी में भी इसने

बहुत कविता की थी पर अब थोड़ी ही सी प्राप्त है, जिनका एक

संग्रह छप चुका है। फारसी-हिंदी-मिश्रित गजल भी लिखा था,

जिनमें से केवल एक प्राप्त है। इसका ध्येय सदा पाठकों का मनो-

रंजन करना रहा। इसने जिस देशी भाषा का अपनी कविता में

प्रयोग किया है, उसे यह बराबर 'हिंदवी' या 'हिंदी' कहता रहा

है। खुसरो ने यह भाषा गढ़ी नहीं थी, प्रत्युत् जो जनसाधारण में

प्रयुक्त हो रही थी उसी का उपयोग किया था। इसकी कविता में

दो प्रकार की भाषा दृष्टिगोचर होती है—गीत आदि में ब्रजभाषा

और मुकरी आदि में खड़ी बोली । अंतिम में भी ब्रजभाषा का पुट मिला हुआ है । उर्दू साहित्य के एक मान्य इतिहास लेखक ने 'सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ' की भाषा को उर्दू तथा खुसरो को उर्दू का प्राचीनतम कवि मान लिया है, यह उनके अक्ल की बलिहारी है ।

जिस प्रकार खुसरो की कविता में पश्चिम के बोलचाल की भाषा का नमूना मिलता है, उसी प्रकार विद्यापति की कविता में पूर्वीय जनसाधारण की बोली का पता चलता है ।

विद्यापति बिहारी तथा मैथिली भाषा मागधी से विकसित हुई है, इसलिए कुछ विद्वान् इनको हिंदी से भिन्न मानते हैं, पर अन्य बातों का विचार करने से यह अलग नहीं मानी जा सकती । इनकी कविता में शृंगार के पद ही अधिक हैं और श्रीराधाकृष्ण का गुण-कीर्तन किया गया है । यह स्वयं शैव थे, पर जयदेव के गीतगोविंद की चाल पर इन्होंने इन पदों की रचना की है । इनमें माधुर्य प्रचुर मात्रा में है । यह संवत् १४५० में वर्तमान थे ।

जिस प्रकार चंद के पहिले के कुछ कवियों का नाम मात्र—मुण्ड्य, कुतुब अली, अकरम फैज, साईदान आदि का—सुना जाता है उसी प्रकार उनके बाद के कुछ साधारण कवियों फुटकर कवि का भी नाम मिलता है, पर इन लोगों की कुछ रचना नहीं मिलती और जो मिलती हैं वे संदिग्ध तथा साधारण हैं । संदिग्धता का एक उदाहरण लीजिए । काशी

नागरी प्रचारणी सभा की खोज में एक भुवाल कवि मिले जिनकी रचना का काल उसमें इस प्रकार दिया था—

संवत् कर अब करौं बखाना । सहस्रसौ संपूरन जाना ।

माघमास कृष्ण पख भयऊ । दुतिया रवि तृतिया जो भयऊ ॥

एक इतिहास लेखक इसे आज से बारह कम एक सहस्र वर्ष पुराना मानते हैं । यह बिलकुल अशुद्ध कल्पना है । ‘सहस्र सौ’ को ‘सहस्र सों’ पढ़कर अर्थ लगाते हैं पर मास, पक्ष, तिथि तथा दिन सब दिया हुआ है । गणना से यही ठीक होता है कि उचित पाठ ‘सत्रह सौ संपूरन जाना’ होना चाहिए । इस प्रकार सहज में सात सौ वर्ष का फर्क पड़ जाता है । मोहनलाल द्विज ने सं० १२४७ में ‘पत्तलि’ लिखा है । अनन्यदास ने ‘अनन्ययोग’, धर्मसूरि जैन ने ‘जंबूस्वामी रासो’, विजयसेन सूरि ने ‘रेवंतगिरि रासो’ और विनयचंद सूरि ने ‘नेमिनाथ चौपई’ तथा ‘उपागममाला’ लिखा है । आदि काल, वीर गाथा काल या चंदकाल अब समाप्त हो चला था और नवीनकाल अर्थात् भक्ति-युग का उदय हो चुका था । मुस-

ल्मानी राज्य यहाँ दृढ़ हो चले थे और युद्धों की

उपसंहार कमी हो चली थी । हिंदू नरेशगण न आपस ही

में और न मुसल्मानों ही से युद्ध कर रहे थे,

जिससे इस काल के समान वीर गाथाओं का आगे के युग में एक प्रकार अभाव था । यह इसलिए कहा गया है कि कभी-कभी जब हिंदू वीर नरेशगण मुसल्मान बादशाहों से अपने राज्य के स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए या देश के स्वातंत्र्य के लिए युद्ध-कौशल दिखलाते

थे तब उनके आश्रित कवियों को ऐसी वीर गाथा लिखने का अवसर मिल जाता था। ऐसे ही अवसर पर राजविलास, छत्र-प्रकाश, शिवराज भूषण आदि से ग्रंथ वाद के कालों में लिखे गए मिलते हैं। पर इस प्रकार का वीरता-प्रदर्शन समग्र देशीय नहीं था, प्रत्युत् छोटे छोटे राज्यों तथा प्रांतों के स्वामियों या निवासियों का था और इसीलिए उनका आगे के साहित्येतिहास में प्राधान्य न हो सका। ऐसे कवियों का विवरण आगे दिया जायगा।

तीसरा परिच्छेद

पूर्व-मध्य या भक्ति-काल

(सं० १३५०-१७००)

मुसल्मानों के अस्थायी आक्रमणों का समय व्यतीत हो गया था और देश में स्थान स्थान पर उनके छोटे बड़े राज्य स्थापित हो चले थे । दिल्ली के मुसल्मान राजे पहिले सुल्तान विषय प्रवेश और बाद को बादशाह कहलाने लगे । भारत में यहीं के राजवंशों का प्राधान्य बराबर रहा । सन् १२०६ ई० में दास राजवंश का आरंभ हुआ । इसके अनंतर विलजी, तुगलक, सैयद और लोदी वंश क्रमशः दिल्लीश हुए । अंतिम वंश के इब्राहीम लोदी को परास्त कर बाबर ने सन् १५२६ ई० में मुगल साम्राज्य स्थापित किया, जिसके ध्वंसावशेष पर भारत के वर्तमान शासकों ने अपना प्रभुत्व फैलाया । इन राजवंशों की साम्राज्य-सीमा के बाहर भी भारतवर्ष में बराबर कितने मुसल्मानी राज्य स्थापित और विलीन हुए । तात्पर्य यह कि समग्र भारत पर इन मुसल्मानों के संपर्क का असर पड़ा और इस राजनैतिक परिस्थिति-परिवर्तन की इस देश के सामाजिक तथा धार्मिक स्थितियों के साथ साथ भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य पर भी पूरी पूरी छाप मौजूद है । 'शस्त्रेण रक्षितं राज्यं शास्त्र-विद्यां प्रयुज्यते' कहा ही गया है, पर जब हम स्वराज्य की रक्षा न कर सके और

हमारे शत्रुओं ने हमारे सामने देवमंदिरों को नष्ट भ्रष्ट किया, हमारे पूज्य महात्माओं तथा ग्रंथों का अपमान किया और हम लोग सिवा देखते रहने के कुछ भी न कर सके, उस समय हम हिंदू मात्र के हृदय से आत्मगौरव, उत्साह तथा शौर्य एक प्रकार अंतर्हित सा हो गया। ऐसे हृदयवाले जब वीरता-पूर्ण कार्य ही नहीं कर सकते थे तब वे भला कैसे वीर गाथा काल से काव्यों की रचना या श्रवण शिर ऊँचा कर कर सकते थे। उनका दिल बैठ गया था पर वे उसे अपने भगवान की सुर-रक्षिणी पर असुर-विनाशिनी शक्ति की ओर दृष्टि लगाकर उसे सांत्वना देने की चेष्टा करने लगे। इन आर्गंतुकों में धर्माधता, कट्टरपन और हठ इतना भरा हुआ था कि वे दूसरों को अपने श्रद्धानुसार अपने अपने भगवान का पूजन अर्चन नहीं करने देना चाहते थे। वे अन्य धर्म के उपासना-गृहों को भ्रष्ट करने में भी बड़े पटु थे और इन सब कष्टों से जनता की प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर भी बढ़ी। कुछ दिन यहाँ बसने पर मुसलमानों का धार्मिक जोश भी कुछ ठंडा पड़ा और वे यहाँ के निवासियों से मिलने जुलने लगे। हिंदू जनता ने, जो अपने ईश्वर को समग्र सृष्टि का स्रष्टा समझती आई है, मुसलमानों से अभेद भाव रखने के विचार से 'राम रहीम' की एकता प्रस्तावित किया। इसका कुछ सहृदय मुसलमानों ने समर्थन भी किया। इस प्रकार क्रमशः ईश्वरोन्मुख प्रेम अर्थात् भक्ति का ऐसा प्रबल और विस्तृत प्रवाह बहा कि उससे सारा देश तरंगित हो उठा।

वैदिक काल के कर्मकांड का समय बीत गया था और ज्ञान

तथा विरक्तिपूर्ण बौद्ध धर्म की ओर से भी जनसाधारण का चित्त हट रहा था। गार्हस्थ्य धर्म त्याग कर ही जो कार्य सगुण उपासना हो सकता था, उसके प्रति गृहस्थ आकर्षित नहीं हो सकते थे। उनकी चित्त-वृत्ति इस ज्ञान-धर्म से तृप्त नहीं हो रही थी और वे उस उपासना धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे जो गार्हस्थ्य धर्म निवाहते हुए पूरा किया जा सकता था। बौद्ध धर्म को उसके प्रति उदासीन होते हुए जनसाधारण की ओर से पहिले कुमारिल भट्ट और बाद को सुप्रसिद्ध शंकराचार्य ने भारत से प्रायः निर्वासित कर दिया। शंकर स्वामी ने अद्वैतवाद का प्रचार करते हुए ब्रह्म तथा जीव में अभेद प्रतिपादित किया। साथ ही उनके एक श्लोक का यह तात्पर्य उनके धार्मिक सत्त्व को बतलाता है कि 'हे प्रभो, चाहे भेद न हो पर मैं तुमसे हूँ और तुम मुझसे नहीं हो, जैसे तरंग समुद्र का है पर समुद्र तरंगों का नहीं है।' इस अभेद में जो भेद दिखलाता है, उसका माया के कारण होना बतलाया गया है। यह अद्वैत तथा मायावाद भी ज्ञानियों के लिए ही था और वह भी जनसाधारण के चित्त को आकृष्ट न कर सका। माया पाश में बद्ध जनता ज्यों ज्यों ज्ञान मार्ग की ओर 'सुरभि भजी च है त्यों त्यों अरु भूत जाय।' उसी बंधन के बीच में रहते हुए परमाशा रूपी परमेश्वर के पाने की चिन्ता में जनसाधारण व्यग्र थे और वे उसको करुणापूर्ण शब्दों में याद कर रहे थे। शंकर स्वामी के प्रायः दो शताब्दी बाद दक्षिण ही में रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने शास्त्र नम्रत

विशिष्टाद्वैत मत का प्रवर्तन किया। इन्होंने पहिले पहिल ज्ञान तथा उपासना दोनों का सम्मिश्रण कर अपरिमेय गुणों युक्त निर्गुण परब्रह्म परमेश्वर का अर्चन उनके एक सगुण रूप में करने का उपदेश दिया, जो मनुष्यों के हृदय में प्रादूर्भूत हो सके। इन्होंने परमेश्वर के त्रिगुणात्मक तीन रूपोंमें से पालक विष्णु भगवान की उपासना चलाई, जो प्रायः समग्र भारत में प्रचलित है। दक्षिण ही में अन्य आचार्यगण भी क्रमशः प्रगट होते गए और यह भक्ति का अखिल स्रोत जनसाधारण को सदा आकर्षित करता रहा। इसके अनंतर वैष्णवों के दो दल हुए। एक ने विष्णु भगवान के कृष्णवतार की और दूसरे ने रामावतार की उपासना चलाई। श्री रामानुज की शिष्य-परंपरा में श्री रामानंद जी हुए जिन्होंने सीताराम की पूजा का उपदेश दिया। मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य तथा विष्णुस्वामी ने 'राधाकृष्ण' का पूजन अर्चन आरंभ किया। बल्लभाचार्य जी ने भी बालगोपाल की पूजा ही का समर्थन किया। श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में इन्हीं श्रीकृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया था।

इस प्राचीनतर सगुण उपासना के साथ नवीन परिस्थिति के अनुकूल उत्पन्न एक सामान्य भक्ति मार्ग भी अप्रसर होने लगा और इसकी भी दो शाखाएँ फूट चलीं। वे दोनों निर्गुण उपासना मुख्यतः एकेश्वरवाद थीं और दोनों में उस ईश्वर का कोई निश्चित स्वरूप नहीं माना गया था। यह निर्गुण पंथ ब्रह्मवाद तथा सुदावाद दोनों ओर ढलता था।

और इस कारण जातिबंधन तथा उच्च-नीच आदि का विचार न कर ईश्वर की भक्ति का सबको समान अधिकारी मानता था। इसमें प्रतिमा-पूजन का एक प्रकार वहिष्कार था और यह भाव किसी प्रकार आपत्ति-जनक न था। राम-कृष्ण का नाम लेने तथा उनके ध्यान में मग्न होने का सभी को समानरूपेण अधिकार है। सगुण उपासना में केवल मूर्ति की सेवा करने में यह प्रश्न उठता है, नहीं तो श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्रीरामानंद दोनों ने मनुष्य मात्र को भक्ति का समान अधिकारी माना है। ये निर्गुणिए भक्त कभी ब्रह्मज्ञान छाँटते थे, तो कभी परमेश्वर के अनेक अवतारों का भी वर्णन करते थे; कभी एकेश्वरवादी बन जाते थे तो कभी अद्वैतवादी और कभी सगुणोपासना की भी झलक दिखा देते थे। इन पंथ-प्रवर्तकों का विशेषतः यही ध्येय रहा कि ऐसा मार्ग निकालना चाहिए, जिस पर सभी जाति, धर्म आदि भगड़ों को छोड़कर साथ-साथ अग्रसर हो सकें। इस कारण इन लोगों ने दोनों सनातन हिंदू तथा मुसलमान धर्मों से साधारण साधारण बातें लेकर एक सामान्य भक्ति-पद्धति निकाली, जिसमें मूर्ति-पूजन, अवतारवाद आदि की एक ओर तथा निमाज रोज़ा आदि की दूसरी ओर असारता दिखलाई गई है। ब्रह्म, माया, जीव, सृष्टि, प्रलय आदि की खूब बकवाद कर पूरा ब्रह्मज्ञान भी कथा गया है। यह निर्गुणपंथ जिन दो शाखाओं में बँटा है, उनमें एक में ब्रह्मज्ञान की प्रधानता है और दूसरी में सूफी मतानुकूल प्रेम (इश्क-इकीकी) का प्राधान्य है।

अभी कल की बात है कि शिवलिंग पर चढ़ाए गए अक्षतों को चुहिए को खाते देखकर जब आर्य-समाज सा मत प्रवर्तित हो गया, तो जिस समय भारत मूर्ति-खंडकों द्वारा ज्ञानप्रधान पादाक्रांत हो रहा था, उस समय चमत्कार-प्रिय भारतवासियों ने इन देव-मूर्तियों को शक्तिहीन निराश्रय के समान तोड़े-फोड़े जाते देखकर उनपर अश्रद्धा प्रगट की और निर्गुण ब्रह्म की ओर कुछ भुक्त पड़े तो आश्चर्य ही क्या है। वे सगुण तथा बहु-देवोपासना का खंडन करने लगे। ऐसे ज्ञानियों में कुछ कवि भी निकले और वे इसी ब्रह्मज्ञान को लेकर मूर्तिपूजन आदि पर आक्षेप करते हुए स्वच्छंदता से कविता करने लगे। ऐसे लोगों में कुछ ही प्रतिभावान थे और बचे हुए कोरे तुकबंदी जोड़नेवाले थे। इन लोगों ने साखी, सबद और दोहरे खूब कहे, जिनमें बहुत कम साहित्यिक कोटि के अंतर्गत आते हैं। इन लोगों की भाषा भी सुव्यवस्थित नहीं है क्योंकि इस मार्ग की ओर सुशिक्षितों तथा उच्च-कोटि वालों का रुझान कम रहा। इनकी रचनाओं में भक्त कवियों की सरलता तथा उनके सौकुमार्यादि गुण नहीं से हैं, पर साधारण जनता पर अवश्य इनका उपकार है कि उन लोगों में शुद्धाचरण, आत्म-सम्मान आदि भावों को उत्पन्न कर तथा बाह्याडंबर, अहम्मन्यता आदि को कमकर उन्हें उठने का अवसर दिया है। इनमें कबीर, नानक आदि प्रतिभासंपन्न पुरुष हो गए हैं।

प्रेम लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का होता है। इसीमें दूसरे को लोग शुद्ध प्रेम भी कहते हैं। फारसी के सूफी कवियों ने इसी

अलौकिक प्रेम (इश्क हक्कीकी) को लेकर काव्य-रचना की है और उसमें इसी प्रेम की महत्ता का वर्णन किया है।

प्रेम प्रधान आशिक अर्थात् प्रेमी भक्त है और उसकी माशूक अर्थात् प्रियतमा “खुदा” है। जीवन विरह है और मृत्यु मिलन है। यह विरह अर्थात् प्रेम की पीर, यावज्जीवन रहती है। हिंदी साहित्य में सूफी मुसलमानों ने पहिले पहल इस प्रकार की प्रेम-गाथाएँ लिखना आरंभ किया और इस प्रकार के कवियों में सर्व श्रेष्ठ कवि जायसी मुसलमान ही थे। इन कहानियों का कथावस्तु इतना ही होता था कि दो में प्रेम अंकुरित हुआ और विरह के बाद मिलन हुआ। इनका मुख्य ध्येय विरहपीड़ा अर्थात् ईश्वर से मिलने की उत्सुकता तथा विह्वलता का ऐसा वर्णन करना है, जो लौकिक प्रेम से बहुत ऊँचे उठ गया हो। जो जितने ही व्यापकरूप में इसकी व्यञ्जना कर सका है, वह कवि उतना ही सफल हुआ है। इसमें धार्मिक द्वंद्व नहीं है, जिससे सभी धर्मवालों को ये रुचिकर हैं। सांसारिक बातों से परे परोक्ष के रहस्य पर भी कभी कुछ संकेत मिल जाता है, जो मधुर तथा मर्मस्पर्शी भी होता है। इन लोगों ने प्रेम-कहानी के लिए दो बहुत ही सीधे-साधे छंद चौपाई और दोहे चुने हैं। जायसी इस मार्ग के श्रेष्ठतम कवि हैं तथा हिंदी साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

ज्ञान-प्रधान शाखा के मुख्य कवि कबीर हुए हैं, जिनके जन्म-स्थान के विषय में अनेक वाद विवाद हैं। इन्होंने स्वयं अपने को काशी का लिखा है और नीरु-नीमा नामक जुलाहे दंपति ने इन्हें

लहरतारा के तालाब के पास सद्यः प्रसूत अवस्था में पाकर इनका पालन किया था। यह ब्राह्मण थे पर जुलाहे के कबीर यहाँ रहने के कारण मुसलमान हुए। इनका जन्म-दिन ज्येष्ठ शुक्ल १५ सं० १४५६ वि० सोमवार माना जाता है। स्वामी रामानन्द का प्रभाव उस समय खूब फैला हुआ था, इसलिये यह भी कभी कभी राम नाम जपते थे और तिलक भी लगा लेते थे। उन्हें गुरु बनाने की कबीर को बड़ी उत्सुकता थी पर वे उन तक पहुँच नहीं सकते थे। अंततः यह एक दिन उस घाट की सीढ़ी पर जा लेटे, जहाँ रामानंदजी नित्य स्नान करने जाते थे। प्रातःकाल रामानंदजी का पैर कबीर पर पड़ ही गया और वे 'राम राम' बोल उठे और कबीर ने इसे ही गुरु मंत्र मान लिया और अपने को रामानंदजी का शिष्य प्रगट किया। वे अपनी बिनाई भी करते और साथ साथ राम-नाम जप, साधु-सत्संग तथा भजन रचना भी करते थे। इनके पंथ में मुसलमान भी हैं और वे इन्हें शेख तकी का शिष्य मानते हैं। इन मुसलमान फकीरों का सत्संग करने का कबीर ने उल्लेख अवश्य किया है पर वे कहीं उनमें से किसी को अपना गुरु नहीं कहते प्रत्युत् उन्हीं को उपदेश देते ज्ञात होते हैं। कबीर के उपदेशों में तथा उनकी रचना में हिंदूभाव की उपासना मुख्य है। कबीर ने देशाटन भी खूब किया था और सूफी फकीरों का भी सत्संग किया था पर रामानंदजी का प्रभाव इनपर इतना काफी पड़ा था कि वे अद्वैतवाद ही की ओर प्रवृत्त हुए। हाँ, रामानंद जी के बतलाए हुए राम से

इनके राम कुछ भिन्न हो गए—प्रथम के सगुण राम दूसरे के हाथ में निर्गुण राम बन गए। इन्होंने विवाह भी किया था और इनके कमाल तथा कमाली एक पुत्र तथा एक कन्या भी थीं। इनकी मृत्यु सं० १५७५ में मगहर में हुई, जहाँ इनकी समाधि बनी हुई है और अब केवल यहीं मुसल्मान कबीरपंथी मिलते भी हैं। काशी में कबीरचौर भी इनके भस्मावशेष पर बना हुआ है और उससे उस महाल का नामकरण भी हो गया है। इनके जन्म तथा मरण सम्बन्ध दोनों ही विवादग्रस्त हैं।

कबीर की बाणी का संग्रह 'बीजक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें रमैनी, सबद और साखी सभी संगृहीत हैं। इनकी भाषा में खड़ी बोली, अवधी और पूरबी का मेल विशेष है। कबीर के शिषित्व न होने के कारण इनकी भाषा शिष्ट नहीं है, पर इनकी कथनशैली चमत्कारपूर्ण अवश्य है। प्रतिभाशाली यह अवश्य थे, जिससे इनकी उक्तियाँ मार्मिक और हृदयग्राही हुई हैं। इनकी रचना में धार्मिक भगड़ों पर खूब फटकार बतलाई गई है, संसार की असारता, झूठाछूत आदि उपरी आडम्बर का खोखलापन दिखलाते हुए उपदेश दिए गए हैं। 'कबिरा की उल्टी बानी' भी खूब है, जिसे मुनकर अपढ़ जनता बड़ी प्रसन्न होती है। जहाँ वह कंठी के बजाय कुंदा और प्रस्तर मूर्ति के स्थान पर पहाड़ कह देते हैं, वहाँ बहुत से लोग आज भी हो हो कर पड़ते हैं। उपासना विधि के कारण जो भेदभाव मनुष्यों में उत्पन्न हो जाता है, उसे दूर करने ही के लिये कबीर ने ऐसा बहुत कहा है। वास्तव में यह

विश्व ही एक विशाल मंदिर है, जिसमें उसका एक मात्र स्रष्टा सर्वत्र प्रतिष्ठित है और जिसके पूजन अर्चन ध्यान का जीव मात्र को अधिकार है। यहीं भेद नहीं रह सकता। सगुण उपासना में उसी परब्रह्म का अपने अपने मन्दिरों में चिह्न स्थापित किए हुए उपासक गण यदि दूसरों को उसमें साझी नहीं होने देते, तो द्वंद्व मचता है। कबीर ने ब्रह्मज्ञान भी बहुत कथा है, माया, जीव, षड्रिपु आदि सभी आ गए हैं पर इन सबका ज्ञान इन्हें स्वाध्याय से न होकर केवल सत्संग मात्र से हुआ है। यही कारण है कि इनकी रचना में द्वैत, अद्वैत, निर्गुण-सगुण सभी कुछ मौजूद है।

धर्मदास बांधवगढ़ निवासी बनिए थे। तीर्थयात्रा करते एक बार जब वह मथुरा से लौट रहे थे तब धर्मदास कबीर से इनसे सत्संग हुआ और इनकी अटपटी बाणी का उनपर ऐसा असर हुआ कि उन्होंने तीर्थाटन, देवार्चन तथा मूर्तिपूजन से एक दम विश्राम ले लिया और निर्गुण निराकार के भक्त हो गए। कबीर के यह प्रधान शिष्य हुए और उनकी मृत्यु पर यही उस गद्दी के मालिक हुए। इन्होंने कबीर की बाणियों का संग्रह किया और 'कबीर के द्वादश पंथ' लिखा। यह बीस वर्ष गद्दी के मालिक रह कर परलोक सिधारे। इनकी रचना यद्यपि थोड़ी है पर गुरु की कर्कश वाणी से अधिक मधुर और सहृदयतापूर्ण है। इन्होंने दूसरों पर आक्षेप करना छोड़ कर केवल प्रेम ही पर पद लिखे हैं। इनकी भाषा पूरबी है।

सिख संप्रदाय के संस्थापक गुरु नानक का जन्म सं० १५२६

वि० के कार्तिक के अंत में हुआ था। इनके पिता कालू खत्री लाहौर के कुछ उत्तर रावी तटस्थ तलवड़ी में नानक रहते थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था, जिनका मायका लाहौर से पंद्रह मील दक्षिण कनकच में था और वहीं अर्थात् नाना के घर में जन्म लेने के कारण ही इनका नाम नानक पड़ा था। सं० १५४५ वि० में इनका विवाह गुरुदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ था, जिससे इन्हें दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। इनमें पहिला उदासी संप्रदाय का प्रवर्तक हुआ। इनके पिता अन्न के व्यापारी थे पर कुछ लोगों का कथन है कि ये कहीं नौकरी करते थे। जो कुछ हो उसने इन्हें व्यापार में लगाने का बहुत उद्योग किया पर सफल न हुआ। अपने बहनोई की दुकान पर कुछ दिन बैठते थे पर वहाँ भी खूब अन्नदान किया। अंत में वह भी छूटा। फारसी की शिक्षा इन्हें इनके पिता के पड़ोसी सैयद हसन ने दी थी, जो धनाढ्य पर निस्संतान था। मुसलमानों के संपर्क से एकेश्वरवाद बढ़ ही रहा था। कबीर और गोरखनाथजी की वाणियों का भी प्रचार हो गया था। नानक स्वयं आरंभ ही से भक्त थे और समय के प्रभाव से वह स्वभावतः ऐसे मत की ओर झुके जो समान रूपेण हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इन्होंने तीर्थ भ्रमण बहुत किया, साधु बने पर अंत में घर लौटकर गृहस्थ हो गए और निर्गुण उपासना का प्रचार पंजाब में आरंभ कर सिख संप्रदाय के प्रवर्तक हुए।

इनकी भाषा में पंजाबी, खड़ीबोली, ब्रजभाषा तीनों का मेल है। इनके भजनों में भक्ति या विनय के भाव सीधी सादी भाषा में प्रगट किए गए हैं। अहंता का इनमें अभाव था। इनके पदों में भी वही संसार की अनित्यता, भक्ति तथा सदाचार का उपदेश भरा है। इनके भजनों का 'ग्रंथ साहब' में संग्रह हुआ है, जिसमें कबीर आदि के भी पद संकलित हैं। काव्य की दृष्टि से इनकी कविता साधारण है पर उसमें धार्मिक उत्साह बहुत है।

सं० १६०१ वि० में गुजरात के अहमदाबाद नगर में इनका जन्म होना कहा जाता है। इनकी जाति के विषय में मतभेद है।

कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ इन्हें चर्मकार दादूयाल बतलाते हैं। दंतकथा है कि ये लोदीराम ब्राह्मण को सावरमती नदी में बहते हुए मिले थे और उसी ने इन्हें पाला था। विशेषकर यही संभव है कि यह छोटी जाति के थे। यद्यपि सिद्धांततः यह कबीर पंथ के अनुयायी ज्ञात होते हैं पर यह किसके शिष्य थे, इसका पता नहीं है। एक विद्वान ने इन्हें कमाल का शिष्य लिखा है। इन्होंने अपना पंथ अलग चलाया था और दादूपंथी अब भी पाए जाते हैं। ये जयपुर में अधिक रहे और सं० १६६० वि० में उसी के अंतर्गत नराने के पार्वत्य स्थान में इनका शरीरांत भी हुआ। यही स्थान इस पंथ-वालों का केंद्र है, जहाँ उनकी पुस्तकें और कपड़े रक्खे हैं।

इनकी कविता में दोहे और पद हैं, जिसकी भाषा पश्चिमी हिंदी है पर उसमें राजस्थानी का मेल अधिक है। गुजराती तथा

पंजाबी में भी कुछ पद कहा है । फारसी, अरबी शब्दों की भी कमी नहीं है और खड़ी बोली का स्वभावतः काफी पुट है ।

इन सब में सत्गुरु की महिमा खूब गाई गई है, जिसके अनंतर ईश्वर (राम) की व्यापकता और संसार की अनित्यता इरसाई गई है । वर्ण-व्यवस्था आदि के विरुद्ध कथन तो अवश्य ही है । इनकी उक्तियों में चमत्कार कम है पर सरसता और गांभीर्य है । यह अपनी बात कह देते थे । दूसरों के कथन का खंडन मंडन करने नहीं बैठते थे ।

यह खंडेलवाल वैश्य थे । इनका जन्म सं० १६५३ वि० में जयपुर के अंतर्गत चौसा नामक स्थान में हुआ था । इनके पिता का

नाम परमानंद और माता का सती था । ग्यारह

सुंदरदास वर्ष की अवस्था में यह काशी आए और बीस

वर्ष तक यहीं विद्याध्ययन करते रहे । यहीं

इन्होंने 'ज्ञान-समुद्र' नामक ग्रंथ लिखा था । यह संस्कृत के अच्छे वेद्वान् थे और फारसी के भी ज्ञाता थे । काशी से लौटने पर यह नराने गए और वहाँ कुछ दिन रहकर पर्यटन करते हुए शेखावाटी फतेहपुर में जाकर रहने लगे । यहाँ के नवाब अलिफ खाँ इन्हें बहुत मानते थे । यह अपने गुरु रज्जबजी से मिलने साँगानेर गए, जहाँ कार्तिक शुक्ल ८ सं० १७४६ वि० को इनका देहांत हो गया । यथा नाम तथा गुणाः' यह गौर वर्ण वाले और रूपवान् थे । इनका स्वभाव भी विनम्र तथा कोमल था ।

संस्कृत के षट्शास्त्री होने तथा काव्यकला से पूर्ण परिचित होने

के कारण इनकी कविता बहुत ही परिमार्जित तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी रचना में दोहे, चौपाई, कवित्त, सबैये सभी हैं और सभी साहित्यिक दृष्टि से ऊँची कोटि के हैं। भाषा भी इनकी शुद्ध ब्रज-भाषा है और इन्होंने लिखा भी बहुत है। भक्ति तथा ज्ञान की चर्चा के अतिरिक्त इन्होंने नीति और आचार विचार पर भी कहा है।

अब तक जिन संतों का उल्लेख किया गया है, उनके सिवा मलूकदास, अक्षर अनन्य, जगजीवन साहब, तुलसी साहब, पलटू साहब आदि बहुत से संत हुए और इनमें से बहुतों ने अपने अपने अलग पंथ भी चलाए। इन संतों की परंपरा अब तक चली जा रही है और स्यात् बराबर चलती रहेगी। ऐसे संतों की बानियों के बहुत से संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। पर वास्तव में देखा जाय तो ऐसे संत कवियों में, जिन्होंने निर्गुण मार्ग ही ग्रहण किया था, बहुत कम ऐसे हुए, जिनकी कृतियाँ साहित्यिक कहलाने का दावा कर सकती हैं। यही कारण है कि इनका प्रचार अशिक्षितों ही में अधिक है और वह भी उन्हीं लोगों में है जो उन संप्रदायों पर श्रद्धालु हैं। इन रचनाओं में उन भावनाओं की सम्यक् व्यंजनाएँ नहीं पाई जातीं, जो मनुष्य के जीवन में नित्यप्रति अनुभूत होती रहती हैं। और इसी से वे समान रूप से सबको आकर्षित नहीं कर सकीं।

इस समीक्षा से यद्यपि ज्ञान-प्रधान संत कवियों को साहित्य में ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता, पर उन लोगों ने जो कुछ किया है और उसका जो कुछ सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा है उसके

लिए हिंदू मात्र उनके उपकृत हैं । जैसा दिखलाया जा चुका है, इस मार्ग की ओर स्वभावतः बहुत कम लोग आकृष्ट हुए और चाहे बहुतों ने 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' के साथ डफली बजाई हो पर वे उसमें रँगें नहीं । हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष को दूर करने का भी इन संतों ने जो कुछ प्रयास किया था, वह कहाँ तक सफल हुआ यह आज भी एक महात्मा के प्रयत्नों से नापा जा सकता है ।

चौथा परिच्छेद

प्रेम-प्रधान निर्गुण-भक्ति-शाखा

जैसा गत परिच्छेद में लिखा जा चुका है, निर्गुणधारा की दूसरी शाखा प्रेम-प्रधान है और इस शाखा के कवियों ने केवल आख्यानक काव्य लिखे हैं। इनकी कथा-वस्तु आख्यानक काव्य साधारण दंतकथाओं के आधार पर निर्मित होती है और कभी-कभी ऐतिहासिक नाम मात्र देकर उन पर ऐतिहासिक पुट भी दे दिया जाता है। साहित्य की वृद्धि तथा कवि की श्रेष्ठता के अनुसार ये आख्यानक अधिक विशद, व्यापक तथा सुंदर हुए हैं। इन आख्यानक काव्यों की परंपरा हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष के प्रायः कई शताब्दी के बाद चली थी, पर जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, उनमें प्राचीनतम काव्य सोलहवीं शताब्दी के आरंभ का है। यह परंपरा अब तक कुछ-कुछ चली आ रही है और जिसने उन्नीसवीं शताब्दी में संगीत तथा ख्याल का रूप भी धारण कर लिया था। अब गद्य के विकास के साथ इसकी अनुपयुक्तता इसे आप ही आत्मसान् कर रही है।

इन आख्यानक काव्यों के रचयिता प्रायः ईश्वर को मिलानेवाले प्रेम-तत्त्व के अन्वेषक साधु-फकीर रहे हैं और उनके दो स्पष्ट संप्रदाय हिंदू और मुसल्मान हैं। इनमें दूसरा ही साहित्य-दृष्टि से विशेष महत्व का है। कारण यह है कि हिंदू सुकवि-भक्तों ने इस

और ध्यान ही नहीं दिया। इस काल के हिंदू भक्त सगुण की ओर विशेष भुके और निर्गुणवाले भी ज्ञान-प्रधान-शाखा की ओर विशेष आकृष्ट हुए। केवल कुछ साधारण कवि इस ओर आए और वे भी मनोरंजनार्थ कुछ लिख गए। सूफी मत के उत्साही मुसल्मान सुकवियों की रचनाओं की वे समता नहीं कर सके। इन मुसल्मान आख्यानक-कवियों में धार्मिक उत्साह भरा हुआ था और वे उसका प्रचार भी करना चाहते थे, इसीलिए इन लोगों ने देश की भाषा लेकर अपनी मसनवियों की चाल पर यहीं के आख्यानों के आधार पर रचना की, पर उन सब में उन्हीं के धर्म की बातों की व्यंजना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। हाँ, जिस भाषा में वे लिखी गई हैं, उसके साहित्य की वे अनमोल निधि हैं और उनमें से कई महाकाव्यों के गुणों से आभूषित भी हैं। ऐसा होते भी पूर्वोक्त कारणों से इन काव्यों का हिंदी-भाषी जनता में विशेष प्रचार नहीं हुआ। पहले मुसल्मान संप्रदाय का वर्णन दिया जायगा, जिसका प्रथम कवि कुतबन था।

कुतबन के माता पिता का नाम, जन्मस्थान आदि का कुछ पता नहीं मिलता। यह शेख बुर्हान चिश्ती के शिष्य तथा हुसेन-शाह के आश्रित थे। इन्होंने अपना काव्य मृगा-
 कुतबन वती सन् ६०६ हि० (सं० १५५६-६० वि०)
 में समाप्त किया था। यह हुसेनशाह शेरशाह के पिता सहसराँव के जागीरदार थे। इसका आख्यान इस प्रकार है।
 चंद्रगिरि के अधिपति गणपतिदेव के पुत्र राजकुमार राजा रूपमुरारी

की राजकुमारी मृगावती पर मोहित होता है। वह उड़ने की विद्या जानने के कारण भाग जाती है और यह विरह-व्यथित हो उसे खोजने निकलते हैं। बीच में एक राक्षस से रुक्मिणी नाम्नी सुंदरी की रक्षा करता है, जिसका पिता उसको पत्नी-रूप में इसे ही सौंप देता है। अंत में मृगावती से भी मिलन होता है और वह दोनों रानियों को लेकर घर आता है। कुछ दिन बाद हाथी से गिरने पर उसकी मृत्यु होती है और दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो जाती हैं। इस कथा को लेकर कवि ने प्रेम-मार्ग की कठिनता तथा त्याग निरूपित किया है और साथ ही ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रत्यक्षीकरण भी किया है। आध्यात्मिक विचारों के भी रहस्यात्मक आभास अच्छे हैं।

इस कवि के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसकी रचना मधुमालती की भी केवल एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है, जिससे रचना-

काल आदि का भी पता नहीं चलता। ❀ जायसी ने

मंभन इसका उल्लेख किया है, इसलिए यह उससे पहिले की रचना अवश्य है। मृगावती के समान यह भी

दोहे चौपाइयों में है, पर इसकी कथा-कल्पना तथा वर्णन दोनों ही उससे अधिक मनोरंजक और विशद हैं। इसकी कहानी इस प्रकार है कि कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को कुछ अप्सराएँ सोते हुए उठाकर महारस नगर की राजकुमारी के चित्रसारी में ले जाती हैं। दोनों में जागने पर मिलाप होता है,

* यह अब्दुरहीम खानखानों के पुत्र दाराब खॉ का भात्रित था, जो सन् १६२५ ई० में मारा गया था।

दोनों एक दूसरे पर मोहित होते हैं और प्रेमवार्ता के अनंतर सो जाते हैं। अप्सराएँ मनोहर को उसके घर पहुँचा आती हैं और दोनों प्रेम-व्यथा उठाते हैं। मनोहर खोज में निकलता है, समुद्र में जहाज टूटने पर यह अकेला तख्ते के सहारे एक जंगल में पहुँचता है और चित्तविसरामपुर के राजा चित्रसेन की पुत्री प्रेमा की एक राक्षस से रक्षा करता है। उसी के साथ वह महारस आता है। प्रेमाके पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहते हैं पर वह स्वीकार नहीं करती। मधुमालती उसके यहाँ आती है और दोनों का मिलन होता है। परंतु मधुमालती की माता इस मिलाप को देखकर क्रुद्ध होती है और उसके शाप से पत्नी होकर मधुमालती उड़ जाती है। उसे एक दूसरा राजकुमार ताराचंद पकड़ता है, जिससे मधुमालती अपना सब वृत्तांत कहती है। वह उसे लेकर महारस पहुँचता है और उसके माँ-बाप से उसे मिलाता है। मंत्रबल से मधुमालती फिर अपना रूप पाती है और उसका ताराचंद के साथ विवाह करने का प्रस्ताव होता है, जिसे वह अस्वीकार कर देता है। अंत में मनोहर योगी बुलाया जाता है और उससे मधुमालती का विवाह होता है। एक दिन मधुमालती के साथ प्रेमा को भूलन पर भूलते हुए देखकर ताराचंद बेसुध हो जाता है। यहीं पहुँचकर प्रति खंडित हो जाती है पर कथा के प्रवाह से ज्ञात होता है कि इन दोनों का अंत में मिलन दिखलाया गया होगा।

मलिक मुहम्मद जायसी इस शाखा के सर्व-प्रधान कवि हो

गए हैं। यह जायस के रहनेवाले थे और शेख मुहीउद्दीन के शिष्य थे। सं० १५६६ वि० (६४७ हि०) में जायसी इन्होंने पद्मावत की रचना आरंभ की थी।

शेरशाह ने ठीक इसी सन् में दिल्ली पर अधिकार किया था, जिसके पाँच वर्ष बाद (सन् ६५२ हि०) सं० १६०१ वि० में इसकी मृत्यु हुई थी। जायसी पहुँचे हुए फकीर समझे जाते थे, जिनकी दुआ से अमेठी के राजा को संतान हुई थी। इनका मजार अमेठी में अब तक है। यह बड़े कुरूप और एकाक्ष थे। दूसरी रचना अखरावट बहुत छोटी है, जिसमें ककारादि क्रम से ईश्वर, जीव, प्रेम, आदि के गिज़ान-नंग-गंभी विचार कहे गए हैं। इनकी ख्याति के एक मात्र अवलंब पद्मावत की कल्पना पर ऐतिहासिकता का अच्छा पुट दिया गया है। इसमें जो 'प्रेम की पीर' बतलाई गई है, वह लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से अनूठी हुई है। हिंदुओं की कहानी उन्हीं की भाषा में लिखकर उनके जीवन-संबंधिनी अवस्थाओं का जिस प्रकार मार्मिक चित्रण किया गया है, वह इस मुसलमान कवि की सहृदयता का परिचायक है।

पद्मावत की कथा यों है कि सिंहल के राजा गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती का पालित एक शुक किसी कारणवश वहाँ से भागा और बहेलिए द्वारा पकड़ा जाकर चित्तौड़ के एक ब्राह्मण द्वारा क्रय किया गया। इसने एक लक्ष लेकर उसे चित्तौड़-नरेश रत्नसेन के हाथ बेंच दिया। एक दिन उसकी रानी नागमती ने

उस वाचाल सूर से अपने रूप के विषय में पूछा, जिसपर उसने पद्मावती की प्रशंसा करते हुए, उससे इसका रूप बहुत घट कर बतला दिया। रानी ने चेरी को उसे मार डालने की आज्ञा दी, पर उसने राजा के भय से उसे छिपा रक्खा। राजा के लौटने पर उसका दुःख और क्रोध देख कर सुग्गा लाया गया और उसने सब वृत्तांत कह डाला। पद्मावती का रूप गुण सुन कर राजा विरह-व्यथित हो उसे ढूँढने निकला। साथ में मार्ग-प्रदर्शक सुग्गा और सोलह सहस्र कुमार थे, जो सभी योगी का स्वाँग बनाए थे। कलिंग से जहाज़ी बेड़े पर सवार हो ये सब सिंहल पहुँचे। ये लोग शिव मंदिर में योग साधने लगे और सुग्गा पद्मावती के पास पहुँचा। वह भी कुल वृत्तांत सुन विरहिणी बन बैठी। श्री पंचमी को वह उसी मंदिर में पूजन को आई पर रत्नसेन उसे देखकर बेसुध हो गया। जब वह होश में आया तब तक वह चली गई थी। पद्मावती ने संदेश भेजा कि अब तो गढ़ आवें तभी मिलाप हो सकता है। यह सिद्धि प्राप्त कर गढ़ पर चले पर सवेरा हो जाने से पकड़े गए। योगियों ने दुर्ग घेर लिया और शिव जी की सहायता हुई। अंत में दोनों की शादी हो गई और कुछ दिन बाद वे देश लौट आए।

रत्नसेन का दरबारी पंडित राघव चेतन किसी दोष पर जब सभा से निकाल दिया गया तब प्रतिहिंसा के ख्याल से वह अलाउद्दीन के यहाँ पहुँचा और पद्मिनी के रूप की प्रशंसा की। उसने रत्नसेन को लिखा कि पद्मिनी को भेज दो। अंत में अलाउद्दीन ने

चित्तौड़ घेरा पर जब उसे न ले सका तब संधि प्रस्ताव किया और धोखे से रत्नसेन को पकड़ ले गया। पद्मिनी की आज्ञा पर गेरा और बादल ने सात सौ पालकी में सशस्त्र सैनिक छिपाकर सुलतान को सवाद भेजा कि रानी अपने पति से मिलकर हरमसरा में आती हैं। इस षड्यंत्र से राजा को हुटकारा मिला और गेरा मुसल्मानी सेना रोकने में मारा गया। चित्तौड़ आनेपर रत्नसेन ने कुंभलमेर के राजा देवपाल पर चढ़ाई की, जिसने पद्मिनी के पास दूती भेजी थी। युद्ध में दोनों मारे गए और रत्नसेन के शव के साथ दोनों रानियाँ सती हो गईं। अलाउद्दीन जब फिर चित्तौड़ पहुँचा तब उसे वहाँ केवल राख का ढेर मिला।

प्रेम-प्रधान आख्यानक काव्यों में पद्मावत सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और यह वास्तव में सबसे अधिक प्रौढ़ तथा सरस भी है। कहानी के साथ-साथ प्रेममार्ग के साधनों की कठिनाई और उसकी सिद्धि के प्राप्ति की भी व्यंजना मौजूद है। प्राकृतिक क्षेत्र के दृश्य भी बड़ी मार्मिकता से चित्रित किए गए हैं।

पद्मावत की रचना के ठीक चौआलिस वर्ष बाद सन् ६६१ हि० (सं० १६३६ वि०) में आलम नामक कवि ने अकबर के

समय में माधवानल कामकंदला नामक एक

आलम आख्यानक काव्य लिखा था। इन्होंने लिखा है

कि शाह जलाल (जलालुद्दीन अकबर) के मंत्री

राजा टोडरमल के समय में यह ग्रंथ लिखा गया था। शृंगारिक

‘आलम’ इसके सौ वर्ष बाद औरंगजेब के पुत्र के समय हुआ।

भाषा, छंद आदि सभी आख्यानक काव्यों से हैं। कथा इस प्रकार है कि पुहुपावती नगरी के राजा गोपीचंद का पुजारी ब्राह्मण विद्वान् होते हुए संगीत का पूर्ण ज्ञाता था। इसका गान सुन नागरिन मुग्ध हो जाती थीं। इसपर प्रजा की प्रार्थना पर उसे देश निकाला मिला। वह कामवती नगरी में गया जहाँ एक प्रसिद्ध गायिका कामकंदला उसपर मोहित हो गई। तब यह राजा विक्रम के शरण में गया, जिसने कामवती पर चढ़ाई कर उसके राजा को उक्त वेश्या देने पर वाध्य किया। अंत में दोनों का मिलाप हुआ।

राज्जीपुर के निवासी शेख हुसेन के पाँच पुत्रों में से उसमान एक थे। कविता में यह अपना आधा नाम 'मान' रखते थे।

चिश्ती शिष्य-परंपरा के हाजी बाबाके यह शिष्य
उसमान थे। सन १०२२ हि० (सं० १६७० वि०) में

इन्होंने चित्रावली की रचना की। उस समय जहाँगीर बादशाह था। इसकी कहानी इन्हीं की कल्पना है, पर वर्णन-शैली आदि में इन्होंने बराबर जायसी का अनुकरण किया है। घटनाक्रम यों है कि नैपाल-नरेश धरनीधर पँवार को तप करने पर सुजान पुत्र हुआ, जिसे दो देव सोते ही उठाकर चित्रावली की चित्रसारी में ले गए और उसे वहीं सुलाकर उत्सव देखने बले गए। कुमार ने जागकर चित्रा का चित्र देखा और उसपर आसक्त हो गया। उसने अपना एक चित्र बनाकर बगल में टाँग दिया और सो गया। देवलोग उसे उठाकर पुनः यथास्थान पहुँचा आए। सुबह उठते ही उसने हाथ में रंग लगा हुआ देखकर रात्रि

की घटना को सत्य माना और विरह में दिन व्यतीत करने लगा । इधर चित्रा भी सुजान के चित्र को देखकर उस पर मुग्ध हो गई और उसका खोज करने लगी । अंत में एक चर सुजान तक पहुँचा और उसे चित्रा के देश रूपनगर लिवा लाया, जहाँ शिव-मंदिर में दोनों का साक्षात्कार हुआ । पर एक कुटीचर द्वारा यह अंधा कर दिया गया । अनेक कष्ट उठाने पर एक बनमानुष की सहायता से इसकी आँखें पुनः ठीक हो गईं । यह भटकता हुआ सागरगढ़ पहुँचा और वहाँ की राजकुमारी कँवलावती से चित्रा के समागम तक न मिलने का प्रण लेकर विवाह किया । इसके अनंतर यह एक जोगी के साथ रूपनगर गया पर द्वेषवश एक दासी के खबर दे देने पर दूत पकड़ा गया और सुजान को मारने के लिए हाथी छोड़ा गया, जिसे इसने मार डाला । अंत में चित्रा से वह पहचाना गया और चित्रावली का उससे विवाह हो गया । कुछ दिन अनंतर हंसमिश्र के चेतावनी देने पर यह बिदा हो कँवलावती को लेकर नैपाल पहुँच गया ।

जैसा कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का काफी अनुकरण किया है, पद्मावत में इतिहास का पुट है पर इसमें कोरी कल्पना है । जहाँगीर के समय तक भारत में योरोपियन काफी आ चुके थे और उनमें अंग्रेज प्रमुख थे । नगर, यात्रा, यान आदि का इसमें भी वर्णन है, फिर भी पद्मावत की समता करने की क्षमता इसमें नहीं है ।

उसमान के समकालीन शेख नबी भी हो गए हैं जिन्होंने

ज्ञानदीपक नामक काव्य सं० १६७६ वि० में लिखा था । इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कहानी है । इस रचना के उपरान्त प्रायः एक सौ वर्ष के भीतर कोई उल्लेख योग्य आख्यान-काव्य नहीं मिलते । प्रेमप्रधान सूफी काव्यों की परंपरा की यहीं समाप्ति समझनी चाहिए । यों तो किसी परंपरा के चल जाने पर वह बहुत दिनों तक जीवित रह जाती है । दरियाबाद (बाराबंकी) निवासी कासिमशाह ने सं० १७८८ के लगभग 'हंस जवाहिर' आख्यान लिखा । सं० १८०१ में मुहम्मदशाह रंगीले के समय में नूर महम्मद ने 'इंद्रावती' नामक आख्यान-काव्य लिखा, जो बहुत अच्छा बन पड़ा है । इसमें कालिंजर के राजकुमार और इंद्रावती की प्रेम कथा है । इसी समय के लगभग किसी अज्ञात कवि ने 'चतुर्मुकुट की कथा' लिखी है । सं० १८४७ वि० में निसारखस्त ने 'युसुफ जुलेखा' काव्य अवधी ही भाषा में लिखा । सं० १९०५ में फ़ाजिलशाह ने 'प्रेमरत्न' लिखा, जिसमें नूरशाह और माहे मुनीर की कहानी है । यह सूफी आख्यानों के ध्येय से च्युत हो गया है ।

जैसा लिखा जा चुका है, आख्यानक-लेखकों के हिंदू संप्रदाय के प्रयत्न धार्मिक दृष्टि से न होकर केवल मनोरंजन के लिए थे । लौकिक भाव से लिखी गई ऐसी कहानियों की ओर उच्चकोटि के कवियों या विद्वानों की रुचि नहीं हुई और इसी से ऐसी रचनाएँ विशेष महत्व की नहीं हुई । कुछ पद्य-बद्ध कहानियों का यहाँ उल्लेख

किया जाता है। सबसे प्राचीन दामो कवि कृत 'लक्ष्मणसेन पद्मावती की कथा' है, जो सं० १५१६ वि० में बनी थी। सं० १६०७ में मारवाड़ी भाषा में जैसलमेर के हरराज कवि ने 'ढोलामारू की चौपदी' लिखी थी। सं० १६७३ वि० में मैनपुरी निवासी मोहनदास कायस्थ के पुत्र पुहकर कवि ने 'रसरतन' काव्य लिखा। काशीराम की 'कनक-मंजरी' सं० १७१५ वि० में, हरसेवक मिश्र की 'कामरूप की कथा' सं० १८०८ वि० में, प्रेमचंद कृत 'चंद्र-कला' सं० १८५३ वि० में और मृगेंद्र कवि कृत 'प्रेम-पयोनिधि' सं० १९१२ वि० में बने थे। यह सब साहित्य उच्चकोटि के नहीं हुए। हिंदू-प्रबंधकारों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यान लिखने ही की प्रथा थी और उसी परंपरा में हिंदी-साहित्य के कई उज्ज्वल-रत्न पैदा हुए हैं और होंगे।

पाँचवाँ परिच्छेद

सगुण भक्ति धारा—रामावत-शाखा

जिस प्रकार स्वामी शंकराचार्य जी शैव संप्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं, उसी प्रकार श्री रामानुजाचार्यजी वैष्णव संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके पहले शैव या वैष्णव थे नहीं और न यही कि शिव तथा विष्णु का परिचय इन्हीं लोगों ने पहिले पहल संसार को दिया था। शंकर स्वामी ने अद्वैतवाद का तथा रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का निरूपण किया था। दोनों ही यह मानते हैं कि परब्रह्म एक है और उसके सिवा जो कुछ गोचर है वह सब उसी की शक्ति-मात्र है। यह सगुणात्मक भावना दोनों ही में स्वीकृत है पर अद्वैतवाद उसे स्थायी तथा असत्य बतलाते हुए अज्ञान का फल कहता है और विशिष्टाद्वैत-वाद उसे स्थायी सत्य पर उसी परब्रह्म द्वारा प्रेरित बतलाता है। इसी के अनुसार चित् (आत्मा) और अचित् (तत्त्व) विशिष्ट ब्रह्म के सारे जीव अंश मात्र हैं, जो उसी से उत्पन्न हो उसी में लीन होते हैं। ऐसे ही नश्वर जीव के निस्तार के लिए उसी अंशी की भक्ति ही एक मात्र साधन है, ऐसा ही उपदेश श्री रामानुज ने दिया और यह उपदेश इनकी शिष्यपरंपरा की वाणियों तथा प्रयत्नों से जनता में बराबर फैलता चला गया।

वैष्णव भक्ति के इस नवीन उत्थान के बाद उसके अनेक प्रवर्तक हुए और इन लोगों के कारण उसके अनेक भेद और शाखाएँ भी हो गईं पर उन सब में कुछ ऐसी खास एकता थी, जो कहीं नहीं बदली जा सकी। इनके प्रवर्तकों ने संस्कृत में ग्रंथ रचे पर साथ ही जनसाधारण की बोलचाल की भाषा को भी अपनाया और हिंदी में उपदेश दिया। वैष्णव कवियों ने सगुण ईश्वर के चरित्र आदि की ऐसी अमर सुगीली तानें अलापीं कि आज तक भारत के धर्मप्राण गृहस्थों के घर में उनकी गूँज समाई हुई है। भक्ति के प्रचार से हिंदी साहित्य को जो प्रेरणा मिली वह अभूत-पूर्व हुई और हिंदी-साहित्य का वह काल चंद्रप्रभा-गुण-विशिष्ट सूर्यवत् प्रकाशमान हो उठा। हिंदी-साहित्य में वैष्णव भक्ति की दो प्रधान शाखा—रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति के अनुसार कवियों के भी दो संप्रदाय हो गए, जिनका उल्लेख अलग अलग किया जायगा।

रामावत्-संप्रदाय के प्रधान उन्नायक श्री रामानंदजी हुए। इनका जन्म प्रयाग-निवासी पुष्पसदन शर्मा के घर में हुआ था।

इनकी माता का नाम सुशीला था। जब यह छ वर्ष के थे, तभी इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और यह श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रधान आचार्य राघवानंदजी के आश्रम में विद्याध्ययन करने लगे। अपनी अद्भुत प्रतिभा तथा धारणा-शक्ति के कारण शीघ्र ही ज्ञान अर्चन कर इन्होंने अपने गुरुवर को तुष्ट कर लिया और वे भी इन्हें

आचार्यत्व प्रदान कर निश्चित हो गए। इसके कुछ दिन अनंतर श्री राघवानंद जी के काशीलाभ करने पर यह भारतवर्ष में पर्यटन कर स्वसंप्रदाय का प्रवर्तन करने लगे। यह तत्त्वतः रामानुज स्वामी ही के अनुयायी थे पर इन्होंने उपासना के लिए क्षीर-सागर-शायिन विष्णु भगवान को न लेकर उन्हीं के अवतार इहलोक में लीला विस्तार करनेवाले श्रीरामचंद्रजी का स्वरूप ग्रहण किया। श्रीरामचंद्र इनके इष्टदेव हुए और श्री रामायनमः इनका मूल मंत्र हुआ। इस प्रकार के विभेद हो जाने के कारण कुछ लोग इन्हें रामानुज संप्रदाय में नहीं भी मानते। यह पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वर्तमान थे।

वैष्णव धर्म सदा उदार रहा है और इसके नवीन उत्थान-काल की सामाजिक अवस्था ने इस उदारता को और भी व्यापक बना दिया। जैसा लिखा जा चुका है, मुसलमान आक्रमण-कारियों तथा सुलतानों के धार्मिक अत्याचार से पीड़ित हिंदूमात्र एक होकर, जाति के साधारण बंधनों को त्यागकर, एक स्वर से ईश्वर को याद कर रहे थे और ऐसी परिस्थिति में इसका होना स्वभाव सिद्ध था। वैष्णव भक्तों ने नीचातिनीच वर्णवाले या अन्य धर्मावलंबियों को भी भक्त होने के कारण प्रेम से अपनाया था। ईश्वर के नाम-जप में जाति-बंधन ने कभी बाधा डाली है ऐसा न कभी सुना गया है और न देखा गया है। ईश्वर-भक्ति का द्वार सबके लिए सदा से उन्मुक्त रहा है, वहाँ पहुँचने के लिए न कोई फीस है और न किसी दलाल की आवश्यकता है। रामानंद जी

ने भी यही उपदेश दिया और इनके इसी स्पष्ट उपदेश के फल रूप वैरागियों के दल यथास्थान मिलते हैं। जो कुछ हो, रामानंद जी वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं थे और यह उनकी रचनाओं से साफ मालूम होता है।

इन्होंने संस्कृत में कई ग्रंथ लिखे थे, जिनमें से कुछ मिलते भी हैं। हिंदी भाषा में भी यह विनय और स्तुति के पद बनाकर भजन किया करते थे। इनकी उपासना दास्यभाव की थी और इस शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास जी का भी यही भाव था।

स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा द्वारा रामभक्ति की ण्टि बराबर होती गई, पर सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस 'रामपदाब्जअलि' की गुंजार सुन पड़ी, वह तुलसीदास रामभक्ति का जितना पुष्टिदाता हुआ, उतना ही

हिंदी काव्य को प्रौढ़ता दायक भी हुआ। इस राम भक्त महाकवि की अमर वाणी ने हिंदी साहित्य को वह संजीवनी शक्ति दी, जिससे वह नित्य उन्नति करती चली आ रही है। भाषा कवियों के अग्रगण्य इन महाकवि की दो जीवनियों का पता चलता है, जिसमें एक तो इन्हीं के शिष्य बाबा वेणीमाधव-दास कृत 'गोसाईं चरित' है, जो संपूर्णतः अप्राप्त है और जिसका अंतिम कांड 'मूल गोसाईं चरित' मात्र मिलता है। दूसरा इनके एक अन्य शिष्य रघुबरदास जी का 'तुलसी चरित' कहा जाता है। इन दोनों के वृत्तांतों में कुछ भेद है। इनके सिवा प्रसिद्ध रामायणी भक्तों ने भी जनश्रुति के आधार पर जीवन-संबंधी बातों

का बहुत कुछ संग्रह किया है। इसके साथ गोस्वामी जी ने स्वयं अपने विषय में अपनी रचनाओं में स्थल स्थल पर जो उल्लेख किए हैं, उनसे इन सब में दी हुई, जिन बातों का समर्थन हो जाता है, उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार इनके जीवन-संबंधी विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर यहाँ मतमतांतर का बिना उल्लेख किए अत्यंत संक्षेप में उनका परिचय मात्र दिया जाता है।

इनका जन्म संवत् १५५४ वि० और मृत्यु संवत् १६८० है। इससे इनकी अवस्था १२६ वर्ष की आती है, जो असंभव नहीं है पर इसी कारण जनश्रुति के आधार पर डाक्टर प्रियर्सन ने इनका जन्म सं० १५८६ माना है। संयुक्त प्रांत आगरा और अवध के बाँदा जिले के अंतर्गत राजापुर ग्राम के निवासी सरजू-पारी ब्राह्मण पत्यौजा के दूबे आत्माराम तथा हुलसी के पुत्र तुलाराम ही बाद को तुलसीदास हुए। इनका जब जन्म हुआ तब ये प्रायः पाँच वर्ष के बालक मालूम होते थे, दाँत सब मौजूद थे और पृथ्वी पर गिरते ही इन्होंने राम नाम ले लिया, जिससे घर भर घबड़ा गया और इन्हें सिद्ध साधु न मानकर राक्षस समझ लिया। माता ने पुत्र को अपनी एक दासी को सौंपा, जिसने इनका पाँच वर्ष तक पालन किया। उसके मरने पर निराश्रय बालक का संवाद उसके पिता को भेजा गया पर उसने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। कुछ दिन बाद बाबा नरसिंहदास ने उसे अपने यहाँ ले जाकर शिक्षा दीक्षा दी थी। इसके अनंतर यह

काशी आए और रामानंद जी के आश्रम में शेष सनातन जी से शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। इसके पंद्रह वर्ष बाद यह राजापुर गए, जहाँ इनका वंश निःशेष हो गया था। यहीं इन्होंने विवाह किया और अपनी स्त्री पर विशेष अनुरक्त हो गए। विवाह के पाँच वर्ष बाद इनकी स्त्री एक दिन मायके चली गई, इस पर यह इतने व्यग्र हो गए कि उसी रात्रि को बड़ी नदी पार कर उसके घर पर पहुँचे। स्त्री ने इस पर विरक्ति के दो दोहे कहे, जो इन्हें ऐसे लगे कि वे उसी क्षण सच्चे विरक्त हो गए और घरबार छोड़ तीर्थाटन को निकल पड़े। काशी, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदि होते कैलास तक गए। इस प्रकार उन्नीस वर्ष व्यतीत कर यह चित्रकूट तक आए। यहीं इन्हें श्री रामचंद्र का साक्षात्कार हुआ और सूरदास आदि अनेक भक्तगण इनसे मिले। यहीं रामचरित-मानस का विशेष अंश लिखा गया और कुछ अंश काशी में पूरा हुआ था। विनयपत्रिका भी काशी ही में लिखी गई और यहीं गोस्वामीजी का शरीरांत भी हुआ। इनकी विद्वत्ता, भक्ति, कवित्व-शक्ति पर रीझकर सुप्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने इनकी प्रशंसा की थी। नवाब खानखानाँ, राजा मानसिंह, नाभाजी आदि से प्रसिद्ध व्यक्तिगण इनके मित्र थे।

गोस्वामी जी के बनाए हुए बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनमें छ बड़े और छ छोटे ग्रंथ हैं। रामचरित-मानस, गीतावली, विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, रामाज्ञा-प्रश्न बड़े तथा जानकी-मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू, बरवै रामायण, वैराग्य

संदीपिनी और कृष्ण गीतावली छोटे हैं। इनके सिवाय सरोजकार ने इनके दस अन्य ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनमें कुछ अप्राप्य हैं और कुछ संदिग्ध हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रामचरित-मानस है जो हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। हिंदी-भाषियों के घर घर में इसकी प्रति बड़े आदर से रखी और पूजी जाती है तथा मनन की जाती है। वेद, उपनिषद् आदि धर्मग्रंथों के समान ही जनसाधारण में यह ग्रंथ पूज्य दृष्टि से देखा ही नहीं जाता है प्रत्युत उसके वाक्य वेद-वाक्य के समान माने तथा अनुसरण भी किए जाते हैं। रघुवीर रामचंद्र के आदर्श चरित्र को लेकर गोस्वामी जी ने धार्मिक औदार्य, सामाजिक बंधनों, राज-नैतिक उच्चाशयता आदि का ऐसा व्यापक दिग्दर्शन कराया है कि सर्वसाधारण अपने पथ-प्रदर्शन के लिए खोजने पर उसमें सब कुछ पा जाते हैं। गोस्वामी जी की उत्कट तथा अनन्य रामभक्ति और प्रौढ़ कवित्वशक्ति के सम्मिश्रण से रामचरितमानस तथा विनय-पत्रिका आदि अन्य रचनाओं में वह महत्व आ गया है, जो कोरे भक्त या कोरे कवि की रचना में मिलना संभव नहीं है। यही कारण है कि आज इन रचनाओं का पठन पाठन तथा मनन मनोरंजन, ज्ञानोपार्जन आदि के साथ विशेष रूप से कल्याणकर समझकर भी किया जाता है।

भाषा की संस्कृति की ओर भी गोस्वामी जी की दृष्टि रही है। पुरानी हिंदी के काल से चली आती हुई वीरगाथाओं में प्रयुक्त अपभ्रंश के रूपों का निराकरण भक्ति काल में शुरू हो गया था।

निर्गुण भक्त कवियों ने बोलचाल की भाषा को विशेष समाश्रय दिया पर उनकी भाषा में मेल अधिक था। उन्होंने ऐसी भाषा ली जिसमें अनेक बोलियों का मिश्रण था और जो संयत नहीं थी। इन 'रमते रामों' की बोली उन्हीं की निजी बोली सी हो रही और उसका कार्य साहित्यिक न रहकर मौखिक रह गया। प्रेम-प्रधान शाखा के कवियों ने अवधी भाषा को अपनाया, जिनमें जायसी मुख्य हैं। पर साहित्य की काव्यपरंपरा की ब्रजभाषा का सगुण-धारा के भक्त कवियों द्वारा ही संस्कार हुआ। अष्टछाप के तथा अन्य कवियों ने उक्त प्राचीन भाषा में प्रचलित रूपों का प्रयोग बढ़ाकर तथा यथाशक्ति गिरे पड़े अप्रयुक्त शब्दों का उसमें से निराकरण कर उसे परिमार्जित स्वरूप दिया। गोस्वामी जी ने अवधी तथा ब्रजभाषा दोनों ही में कविता की है और दोनों ही भाषा का परिमार्जित स्वरूप ही लिया है।

काव्य के मुक्तक तथा प्रबंध दो भेद हैं। मुक्तक काव्य के अंतर्गत गीति काव्य भी आ जाता है। गोस्वामी जी ने तीनों प्रकार के काव्य किए हैं। इनके गीति-काव्य-ग्रंथों में विनय-पत्रिका प्रमुख है पर गीतावली के पद भी उससे कम मधुर नहीं बन पड़े हैं। प्रथम ग्रंथ में संस्कृत-गर्भित अंश अधिक हैं। इनके पद अष्ट-छाप के मुख्य कवियों के टक्कर के हैं। मुक्तक में छप्पय, कवित्त, सबैये, दोहे, बरवै आदि सभी छंदों में गोस्वामी जी ने एक समान उत्तम कविता की है। कई छंदों में संचेपतः सारी रामायण कह गए हैं। प्रबंध काव्य रामचरितमानस में प्रेम-प्रधान कवियों की चाल पर

दोहे चौपाई लिए हैं। भाषा भी वही अवधी रखी गई है, पर संस्कृत भाषा के मिश्रण से इसमें विशेष रूप से मिठास आ गई है। इस प्रकार काव्य के सभी विभेदों में तथा अनेक प्रकार के छंदों में उत्तमोत्तम रचना कर गोस्वामी जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।

‘नानापुराणनिगमागमसम्मतं’ तथा ‘स्वांतःसुखाय’ लिखने के कारण ही गोस्वामी जी रामचरितमानस-से सर्वप्रिय ग्रंथ का निर्माण कर सके हैं। उनका अध्ययन कितना बढ़ा चढ़ा हुआ था यह अनेक शास्त्र, विषय आदि के उल्लेख से ही ज्ञात हो जाता है। अध्ययनशील होते हुए गोस्वामी जी की निरीक्षण शक्ति अपूर्व थी और उन्होंने खूब पर्यटन कर संसार के सभी दुःख सुख आदि के अनुभव प्राप्त किए थे तथा उन सब का अपनी रचनाओं में खूब उपयोग किया है। मानस में मानवजीवन की सभी दशा-कुदशा का व्यापक वर्णन इस प्रकार आ गया है कि आज तक लोग उसको हर हालत में पढ़कर संतोष प्राप्त करते हैं। उसकी सृक्तियाँ मनुष्यों के जिह्वाग्र पर चढ़ी रहती हैं और उसमें भक्त को भक्ति, विरक्त को विरक्ति तथा संसारी जीवों को प्रत्येक प्रकार के सुंदर उपदेश मिलते हैं। धार्मिक तथा सामाजिक उदारता के गोस्वामी जी पूर्ण पक्षपाती थे पर साथ ही वे अनधिकारियों तथा विद्या-द्रोहियों के ढोंग को बहुत बुरा समझते थे। निरक्षर-भट्टों के ज्ञान उपदेश करने के बहाने धार्मिक तथा सामाजिक चञ्चलता फैलाने के यह विरोधी थे और इसीसे ऐसे महात्माओं

पर कटाक्ष किया है। पति-पत्नी, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, सेव्य-सेवक आदि के अनेक आदर्श इन्होंने संसार के आगे इसी लिए रखे भी हैं।

गोस्वामी जी रामभक्त थे अर्थात् वैष्णव थे पर उन्होंने राम के मुख ही से कहला कर शैव-वैष्णव-विद्वेष का पूर्णतया समाधान किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गोस्वामी जी के पहिले दक्षिण के समान उत्तरी भारत में भी यह विद्वेष विशेष रूप से फैल गया था, पर केवल यही कि राम-शिव का सामंजस्य स्थापित कर उन्होंने दोनों पक्षवालों का आपस में संमिलन करा दिया है। कृष्णोपासक उत्कृष्ट कवियों में अनन्यता की मात्रा इतनी बढ़ गई थी कि उनकी दृष्टि में लोकपक्ष शून्य सा हो गया था और उनकी दृष्टि केवल कृष्ण-लीला क्षेत्र के भीतर ही संकुचित रह गई थी। गोस्वामी जी ने सब संसार को 'सियाराम मय' जानते हुए भी लोकपक्ष को नहीं छोड़ा है और इसीलिए उनकी रचना जनसाधारण को विशेष मनोरंजक, लाभदायक तथा कल्याणकर हुई है।

रामावत संप्रदाय के भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान इतना उन्नत हो गया है कि उस संप्रदाय के अन्य कवियों की कविता लोक-प्रिय न हो सकी और इन कवियों की प्रसिद्धि नाम मात्र को रह गई। इन नामों में स्वामी अग्रदास तथा उनके शिष्य नाभादास जी प्रमुख हैं। अग्रदास जी गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य कृष्णदास

जी के शिष्य होते हुए भी इन्होंने राम की भक्ति में पद बनाए थे । यह जयपुर के गलता नामक स्थान के रहनेवाले थे । इनका समय सं० १६३२ वि० के आसपास था । इन्होंने ध्यान मंजरी, राम-ध्यान मंजरी, कुंडलिया और हितोपदेश-उपग्यान-बावनी तथा फुटकर पदों की रचना की है । इनके शिष्य नाभादास भी राम-भक्त थे । इनकी रचना 'भक्तमाल' एक प्रसिद्ध ग्रंथ है और भक्तों में इसका बहुत आदर है । इसमें तीन सौ सोलह छंदों में दो सौ भक्तों का उल्लेख हुआ है । भक्तों की महिमा ही का वर्णन सूक्ष्म रूप से हुआ था, जिससे लगभग सौ वर्ष बाद प्रियादासजी ने इसकी टीका लिख कर उसका विशेष विस्तार बढ़ाया है ।

नाभा जी की जाति के विषय में मतभेद है । कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय और कुछ लोग इन्हें डोम बतलाते हैं । इनका समय सं० १६४० वि० से सं० १६५० के आसपास रहा है । यह गोस्वामी जी से मिलने के लिए काशी आए पर गोस्वामी जी के ध्यान-मग्न होने से भेंट न हो सकी । यह वृंदावन लौट गए, जिससे तुलसीदास जी भी उनसे मिलने वहाँ गए । नाभा जी के यहाँ वैष्णवों का भंडारा था, जिसमें गोस्वामी जी भी बिना निमंत्रण पाए हुए ही पहुँचे और एक किनारे बैठ गए । खीर के लिए पात्र न होने पर गोस्वामी जी एक संत का जूता उठा लाए, जिस पर नाभा जी, जो जानकर भी अब तक अनजान बने हुए थे, इनसे गले मिलकर बड़े प्रसन्न हुए । इसी पर इनके विषय में लिखा था कि 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो' । इनके 'रामचरित के

पद' इधर ही मिले हैं। इनके दो अष्टयाम भी मिले हैं, जिनमें एक गद्य में तथा दूसरा दोहे चौपाइयों में है।

प्राणचंद चौहान ने कथोपकथन रूप में सं० १६६७ वि० में रामायण महानाटक लिखा था। इसमें दोहे चौपाई ही अधिक हैं। सं० १६८० वि० में हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक बनाया, जो प्रथम से अधिक प्रौढ़ और सुंदर है। इन्होंने कवित्त और सवैयाओं में अच्छे संवाद दिए हैं। गोस्वामी जी ने अनेक छंदों में रामचरित कहा है, केवल रूपक रूप में नहीं कहा था, उसी कमी की पूर्ति में जो रचनाएँ हुईं उनमें हृदयराम का हनुमन्नाटक सबसे अच्छा हुआ है।

रामभक्ति की एक शाखा हनुमानोपासना भी है, जिसकी परंपरा भी रामानंद जी तथा गोस्वामी तुलसीदास जी के समय से आरंभ हो चुकी थी। इष्टदेव की भक्ति के लिए उसके सिद्ध भक्त का प्रसाद भी अपेक्षित होता है। बाद को भी अनेक कवियों ने महावीरजी की स्तुति लिखी है, जिनमें रायमल्ल पाँडे का हनुमन्चरित अच्छा है। गोस्वामीजी की मृत्यु को तीन सौ वर्ष हो गए और इस बीच रामचरित पर बहुत-सी रचनाएँ हुईं पर उनमें विशेष महत्व की बहुत कम हैं। इनमें केशवदास जी आचार्य कवि हुए हैं। अयोध्या के बाबा रामचरणदास तथा बाबा रघुनाथदास और रीवा-नरेश महाराज रघुराजसिंह तथा महाराज विश्वनाथसिंह की रचनाएँ भक्त प्रिय हुईं। वर्तमान काल में मैथिलीशरण जी भी मैथिली-पति के चरित पर कविता कर रहे हैं।

छठवाँ परिच्छेद

कृष्ण-भक्ति-शाखा—सगुण धारा

वैष्णवमत की चार मुख्य शाखाओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। श्रीरामानुज ने श्री नारायण की उपासना की और इनकी शिष्य-परंपरा में श्री रामानंद जी हुए, जिन्होंने श्री नारायण के अवतार श्रीरामचंद्र जी का अर्चन पूजन तथा भक्ति का उपदेश दिया। इस संप्रदाय के कवियों का इसके पहिले के परिच्छेद में विवरण दिया जा चुका है। अन्य तीन शाखा मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य की हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रथम शाखा में थे और इन्होंने श्रीकृष्णभक्ति ही को प्रधानता देते हुए नामकीर्तन ही को उपासना का मुख्य अंग माना। इनके उपदेश का प्रधान स्थान बंगाल तथा उड़ीसा था और यह संप्रदाय गौड़ीय कहलाया। गदाधरभट्ट, ललित-किशोरी, ललित-माधुरी आदि कवि इसी संप्रदाय के हैं। वल्लभाचार्य जी चैतन्य महाप्रभु के सहपाठी थे, ऐसा कहा जाता है। इनके उपदेशों का क्षेत्र उत्तरी भारत था। यह विष्णु स्वामी की शाखा के थे, जिसमें श्रीकृष्ण की भक्ति मुख्य है। इस संप्रदाय के भक्तों का चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में उल्लेख हुआ है। वल्लभाचार्य जी ने वेदांत-सूत्र तथा गीता पर स्वतंत्र भाष्य लिखकर शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया

है। ईश्वर की दया ही इस भक्ति मार्ग का मुख्य अंग है, इसलिए इसे पुष्टि मार्ग भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य जी का वैशाख कृ० ११ सं० १५३५ वि० को जन्म और आषाढ़ शुक्ल ३ सं० १५८७ को गोलोकवास हुआ था। आपने समग्र देश में पर्यटन कर अपने मत का प्रचार किया था। आप काशी ही में अवतरित तथा अंतर्हित हुए पर अपनी मुख्य गद्दी वृंदावन में ही स्थापित की थी क्योंकि वह उनके उपास्यदेव श्रीकृष्ण की लीला-भूमि थी। इनके प्रभाव से इनके शिष्य भक्तकवियों ने ऐसे अमृतमय मधुर पद कहे कि उनके श्रवण मात्र से आज भी जनसाधारण का हृदय भक्ति-पूर्ण हो जाता है। इन कवियों में से मुख्य आठ कवियों को श्री वल्लभपुत्र श्री विठ्ठलनाथ जी ने अलग कर लिए, जो अष्टछाप के कवि कहलाए।

निंबार्क शाखा में भी श्रीकृष्ण की उपासना ही मुख्य है। महात्मा हरिदास जी इसी शाखा के थे, जिन्होंने विरक्त तथा ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर डाला और निज की 'टट्टीवाली' शाखा चलाई। नागरीदास जी, शीतलदास जी आदि इसी शाखा के थे। गोस्वामी हितहरिवंश जी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र प्राप्त किया था, इसलिए वे अपने को श्री राधा जी का शिष्य मानते थे। इन्होंने अपना हित संप्रदाय चलाया जो राजवल्लभीय भी कहा जाता है।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों में अष्टछाप ही के कवि प्रधान

हैं और उनमें भी श्रेष्ठतम कवि हिंदी साहित्य के सूर्य सूरदास जी हैं। इनका जन्म तथा मरण काल पूर्ण रूपेण सूरदास निश्चित नहीं हो सका है पर साधारणतः जन्म सं० १५४० वि० के और मरण सं० १६४० वि० के लगभग हुआ माना जाता है। इनके जन्म-स्थान के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग दिल्ली के पास का सीही ग्राम बतलाते हैं और कुछ लोग रेणुका क्षेत्र बतलाते हैं। यह ब्राह्मण थे या ब्रह्म-भट्ट थे इसमें भी संदेह है। साहित्य-लहरी के एक पद में इनके पिता का नाम हरिश्चंद्र लिखा है और आइने-अकबरी में यह रामदास के पुत्र लिखे गए हैं। चंद के वंशज नेनूराम जी भट्ट ने भी इन्हें चंद का वंशधर माना है और हरीचंद के पुत्र रामचंद को सूरदास का पिता बतलाया है। अस्तु, इन सब शंकाओं के समाधान का यह अनवसर समझकर यही कथन अलम् है कि सूरदास भजन करते हुए ब्रज में आ बसे और वहीं श्रीमहाप्रभु जी ने इन्हें शिष्य बनाया तथा गोसाईं विठ्ठलनाथ जी ने अष्टछाप के कवियों में परिगणित किया।

पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के शिष्य हो जाने पर सूरदास जी ने गुरु की आज्ञा से श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण की बाललीला के पदों की रचना आरंभ कर दी और प्रेमतत्व के ऐसे ऐसे सरस पद इन भक्त कवि के मुख से निकले कि वे श्रवण मात्र से हृदय को स्पर्श करते हुए उसपर अपना पूरा असर छोड़ जाते हैं। भागवत के दशमस्कंध का कथा भाग ही लेकर सूरदास जी ने

पदों की रचना की है, अन्य सभी स्कंधों का विवरण अति संक्षेप में कह दिया है। ये सभी पद मुक्तक हैं तथा प्रायः भिन्न भिन्न समय में एक एक कथा लेकर बनाए गए हैं और पीछे से कवि द्वारा शृंखला मिलाने के लिये दोहे, पद आदि बनाकर सूरसागर के रूप में संकलित कर दिए गए हैं। श्रीकृष्ण-जन्म से लेकर उनके मथुरा-गमन तक की एक एक छोटी-सी बात का भक्त सूरदास ने ऐसा विस्तृत वर्णन किया है और इतनी प्रकार से वर्णन किया है कि उस क्षेत्र में उन्होंने बाद के कवियों को कहने के लिए कुछ भी छोड़ नहीं रखा। वात्सल्य और शृंगार इनका सिद्ध रस था। इनको कथा नहीं कहनी थी और इसलिए, यद्यपि इन्होंने ब्रजलीला पूरी वर्णित की है पर वे कथा कहते हुए व्यास से नहीं पाए जाते प्रत्युत् बालक्रीड़ा, प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, विरह आदि अनेक भावों का पूरा विश्लेषण तथा व्यंजना करते हुए कुशल मनोविज्ञानी से पाए जाते हैं।

संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का इन्होंने अनुपम वर्णन किया है। श्रीकृष्ण सुन्दर चपल बालरूप में पहिले गोपियों के बीच में आते हैं, वे उन्हें गोद में लेकर खेलाती हैं, लाड़ प्यार करती हैं। श्रीकृष्ण पाँच छ वर्ष के हो जाते हैं और समान वयस्क बालकों के साथ ब्रज के अन्य सभी गृहों में जाते हैं। गोपियों का स्नेह उन पर बढ़ता है और उनकी चंचलता से हानि होने पर खीझ दिखलाते हुए भी वे उन्हें देखे बिना नहीं रह सकतीं। माता यशोदा के पास उपालंभ ले जाकर भी श्रीकृष्ण से

विनोद करती हैं और उनकी बाल-सुलभ अटपटी बातें सुन कर प्रसन्न होती हैं। ग्राम के नियमानुसार श्रीकृष्ण भी आठ दस वर्ष के होने पर अन्य बालकों के साथ गोचारण को जंगलों में जाते हैं। गोपियों का उनपर इतना स्नेह बढ़ गया था कि वे उनके आने जाने के मार्ग पर दोनों समय उन्हें देखने तथा उनकी कोकिलवाणी और वंशी-वादन सुनने की प्रतीक्षा किया करती थीं। कवि ने कल्लोलिनी कलिंद-नंदिनी के उपकूलों, वंशीवट के करील कुंजों तथा वन्य रमणीक स्थलों के बीच क्रीड़ा करते हुए बालकों के मध्य श्रीकृष्ण की जो लीलाएँ दिखलाई हैं, उन्हें ध्यान में लाने ही से हृदय उस अनंत पवित्र प्रेम में मग्न हो जाता है जो साधारण प्रेम से कहीं ऊँचा है। कुछ सांसारिक तुच्छ जीवों के सड़े मस्तिष्क में यह प्रेम भी विषयासक्त ज्ञात होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण चौदहवें वर्ष में मथुरा चले गए थे और ब्रज में जो कुछ लीला उन्होंने किया था वह इसी बीच में किया था। गोपियों का श्रीकृष्ण पर इतना अधिक पवित्र प्रेम था कि वे उनके साथ रासक्रीड़ा करतीं, फाग खेलतीं तथा उनका स्त्री का स्वाँग बनाती थीं। यही लीला उस प्रेममय को सर्वस्व माननेवाले भक्तों की निधि है।

संयोगोपरांत वियोग होना नियम है। ब्रज से बिदा होकर मथुरा आने पर वहाँ तथा बाद को द्वारिका में श्रीकृष्ण अपने कार्य में लग गए क्योंकि उनकी अवस्था क्रीडाक्षेत्र त्यागने तथा कर्मक्षेत्र में आने की हो गई थी। पर गोपियों को इस भेद का

ज्ञान कहाँ था, वे उसी प्रकार कृष्ण की वंशी की मधुर ध्वनि सुनने की तथा वैसी ही बाल-क्रीड़ा में संमिलित होने की उत्सुका बनी रहीं। उनका पवित्र प्रेम उनकी बढ़ती उम्र का तथा उनके द्वारा जनसाधारण में बदनाम होने का ध्यान भी नहीं करता था पर श्रीकृष्ण जिस कार्य के लिए अवतरित हुए थे, उसका क्षेत्र ब्रजभूमि से दूर था। अतः दोनों पक्ष का (इष्ट तथा भक्त) पारम्परिक प्रेम समान-रूपेण बना रहने पर भी मिलन अलभ्य हो गया। गोपिकाएँ उनके आने की आशा लगाएँ, विरह-विधुरा हो रही हैं पर अब कौन लौटता है। यह विरह असीम हो गया। उद्धव विराग का संदेश भी ले कर आ पहुँचे और योगशास्त्र की सारी कथा कह सुनाई पर स्नेहार्द्र हृदयों पर उपदेश-वर्षा का कुछ भी असर नहीं हुआ। गोपियों के इस प्रेम का सूरदास जी ने जैसा मार्मिक वर्णन किया है वह अभूतपूर्व हुआ है। भ्रमरगीत के एक एक पद ऐसे स्वाभाविक तथा चुटीले हुए हैं और साकार तथा निराकार भेदों को लेकर कितने ऐसे उपालंभ दिए गए हैं कि सुनते ही बनते हैं। साकार का प्रतिपादन अपने हृदय की अनुभूति पर गोपियों से ऐसी सुंदरता से कराया है कि तर्क वितर्क को हार माननी पड़ी है। विरह-सागर इनके पदों में इस प्रकार उमड़ पड़ा है कि ज्ञान उस अतल में लापता हो गया है। वियोग पक्ष की प्रत्येक दशाएँ इनके पदों में भरी पड़ी हैं। तात्पर्य यह कि इनकी तन्मयता इतनी बढ़ गई थी कि इनकी अंतर्दृष्टि ने राधा-कृष्ण के प्रेम-संसार का राई भर भी अंश नहीं छोड़ा, पर उससे

बाहर जाने का भी उसने कभी प्रयत्न नहीं किया । यद्यपि इन्होंने पूतना, केशी आदि कुछ राक्षसों का कृष्ण द्वारा बध दिखलाकर उनके लोक-रक्षक रूप की भी प्रतिष्ठा की है पर वह नायक की शक्ति दिखलाने ही के लिए साधारणतः कह दी गई है । वास्तव में वे श्रीकृष्ण की लोक-रक्षणी शक्ति की व्यंजना करने नहीं गए । वे भक्त-कवि थे और उन्होंने अपने इष्टदेव के परम रमणीय रूप तथा लीला ही के वर्णन में जो कुछ कहा है उसकी स्वाभाविकता, सरलता, तल्लीनता आदि इतनी बढ़ी चढ़ी है कि हिंदी साहित्य में इस विषय में कोई भी कवि इनके समकक्ष नहीं है।

सूरसागर जो आज प्राप्त है उसमें छ सहस्र के लगभग पद हैं । इसके सिवा साहित्यलहरी इनकी रचना कही जाती है, जिसमें कुछ दृष्टि-कूट पदों पर इनकी टीका है ।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी के बाद नंददास जी का नाम आता है । कहा है 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया' ।

यह सूरदास जी के समकालीन थे । भक्तमाल में नंददास इनके भाई का नाम चंद्रहास लिखा है । वार्ता से इनका गोस्वामी तुलसीदास जी का भाई होना ज्ञात होता है । भाई के आग्रह से तुलसीदास जी जब वृन्दावन आए तब का एक दोहा इस प्रकार प्रसिद्ध है—'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेव हाथ' । पर पाठ इस प्रकार है—'तुलसी मस्तक नवतु है, धनुष बान लेव हाथ' । परम उदार गोस्वामी जी के लिए दूसरा ही पाठ-कथन अधिक संगत ज्ञात होता है । इसीमें

नंददास जी का एक खजानी पर आसक्त होना तथा गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के उपदेश पर उस मोह का छूटना लिखा है। नंददास जी की चार पुस्तकें—रास-पंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थ-मंजरी तथा नाम-माला प्रकाशित हो चुकी हैं। भागवत के इनके भाषानुवाद का कुछ अंश देखने में आया है। इसके सिवा रूपमंजरी, विरहमंजरी, रसमंजरी, रुक्मिणीमंगल, श्यामसगाई, मुदामा-चरित्र, जोगलीला तथा पदावली भी मिली हैं। सिद्धांत-पंचाध्यायी नामक एक पुस्तक इधर ही मुझे प्राप्त हुई है। नंददास जी के नाम से एक रचना नासकेतु पुराण गद्य में लिखी मिली है पर यह इनकी नहीं है। नंददास जी की कविता में अनुप्रास की छटा अच्छी है और इनकी भाषा भी साहित्यिक तथा सुष्ठु है। भ्रमरगीत में साकार उपासना का इन्होंने भी समर्थन किया है। रासपंचाध्यायी रोला छंदों में है और इसमें रासलीला का अत्यन्त अनोखा वर्णन है। रसमंजरी में नायिका भेद का और विरह-मंजरी में विरह की उक्तियाँ हैं। अनेकार्थ तथा नाममाला कोश की पुस्तकें हैं। रूपमंजरी आख्यानक है।

कान्यकुब्ज-निवासी ब्राह्मण परमानंददास पहिले स्वयं दीक्षा देते फिरते थे पर बल्लभाचार्य जी के आरेल पहुँचने पर इन्होंने जाकर उनसे स्वयं दीक्षा ली। यह पहिले स्फुट परमानंददास कविता किया करते थे पर बल्लभाचार्य जी से हरिकथा सुनकर इन्होंने जन्म से प्रवास तक की कथा सभृखल कही। वार्ता में विठ्ठलनाथ जी ने इनके परमानंद-

सागर का उल्लेख किया है। खोज में इनकी तीन कृतियों का उल्लेख है, दो के नमूने नहीं दिए गए हैं और एक का जो उदाहरण दिया गया है, वह किसी भी भक्त कवि की रचना नहीं हो सकती। इनके परमानंदसागर का अवश्य मुझे दर्शन हुआ और उसका संपादन करते हुए क्रमशः उसे काशी की “वैष्णव-वैभव” नामक पत्रिका में छापने की दृढ़ इच्छा हुई पर हरि इच्छा बलीयसी। इसका केवल एक लेख में कुछ आरंभ मात्र हो सका। इसके बाद वह प्रति ऐसी लुप्त हुई कि उसका अब तक कुछ भी पता नहीं लगा। इस ग्रंथ में ५३४ पद बाल-लीला के, ४१ मथुरा-लीला के, २३२ पद में विरह वर्णन और ३४ में द्वारिका-लीला कुल ८४१ पद थे। यह प्रति सं० १८२८ वि० की लिखी हुई है। इनकी कविता बड़ी सरस, सरल तथा तन्मयतापूर्ण होती थी। ‘हरि तेरी लीला की सुधि आवै’ पद सुनकर महाप्रभु जी कई दिन तक देहानुसंधान भूले रहे। इनका रचनाकाल सं० १५५० वि० तथा सं० १६२० के बीच में हो सकता है।

वल्लभाचार्य जी के अन्य दो शिष्य कृष्णदास तथा कुंभनदास थे। ये दोनों ही परम भक्त तथा विरक्त पुरुष थे और चौरासी वैष्णवों की वार्ता आदि में इन दोनों ही का कृष्णदास, कुंभनदास वर्णन आया है। कृष्णदास नाम के कई वैष्णव कवि हो गए हैं, जिनमें किसी एक ने समग्र भागवत दशम स्कंध की कथा दोहे, चौपाई में कही है। अष्टछाप के इन कृष्णदास के जुगल-मान-चरित्र, भ्रमर गीत और प्रेम-

तत्त्व-निरूपण तीन ग्रंथ कहे जाते हैं। स्फुट पद बहुत मिलते हैं। कुंभनदास जी परम विरक्त थे। अकबर के बुलाने पर यह सीकरी गए और अति सम्मान होने पर भी आप को यही कष्ट रहा कि 'संतन को कहा सीकरी सों काम ?' इनके भी कीर्तन के पद बहुत से मिलते हैं। एक दानलीला भी मिली है।

ये तीन गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के शिष्य तथा अष्टछाप के कवि थे। प्रथम कुंभनदास जी के पुत्र थे। द्वितीय धनसंपन्न पंडे थे पर बाद को गोसाईं जी के शिष्य तथा भक्त चतुर्भुजदास, छीत- हो गए। तीसरे सनाढ्य विरक्त ब्राह्मण थे, जो स्वामी, गोविंददास महावन में रहते थे। यह अच्छे गायक थे और गोवर्धन पर्वत पर शिष्य होने के बाद कदंबों का उपवन लगाकर रहने लगे। इन तीनों सज्जनों के सुंदर स्फुट पद मिलते हैं, जो अभी तक अलग अलग संगृहीत हो कर नहीं निकले हैं। चतुर्भुजदास जी ने द्वादश यश, भक्तिप्रताप, हितजू को मंगल तीन पुस्तकें बनाई हैं। अष्टछाप के इन सभी कवियों की विशिष्टता उनकी तन्मयता तथा भक्ति है। इन भक्तों ने गीति काव्य की जो निर्मल धारा प्रवाहित की, वह सदा बहती रही है और रहेगी। बाद के कुछ कवियों ने राधाकृष्ण के स्वर्गीय प्रेम के इन शृंगारिक वर्णनों की ओट में सांसारिक विषय वासना का वर्णन खूब किया है और इस कारण कुछ सामालोचकों ने इस कोटि के सभी कवियों पर कटाक्ष कर डाला है, पर यह अनुचित है। भक्त कवियों की रचनाओं की शृंगारिकता को बीज मानकर

जो यह आलोचना की जाती है, वह भ्रामक है। यों तो उस स्रष्टा ही को दोषी मान सकते हैं, जिसने ऐसी वस्तु उत्पन्न कर लोगों में विषय-वासना की वृत्ति जागृत की। अश्लील भाव-पूर्ण कविता का कारण उनके रचेता का कलुषित हृदय मात्र है, जो अपने अनुरूप आदर्श खोज ही नहीं लेता वरन् उच्च आदर्श को भी वह अपनी भावना के अनुसार ही देखता है।

हित हरिवंश जी के पिता का नाम केशवदास मिश्र तथा गाना का नाम तारावती था। यह माध्वानुयायी थे पर स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र प्राप्त होने पर इन्होंने निज का अलग

हित हरिवंश संप्रदाय चलाया। इन्होंने राधावल्लभ जी की स्थापना की, अतः इनका संप्रदाय राधावल्लभीय तथा हित कहलाया। यह संस्कृत तथा भाषा के अच्छे विद्वान् थे और दोनों ही में अच्छी कविता की है। इन्होंने कविता बहुत कम की है पर उतनी ही आपकी प्रखर प्रतिभा, कवित्वशक्ति तथा विद्वत्ता की पूर्ण परिचायिका है। अपनी काव्यमधुरिमा के कारण ही यह श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहलाए। इनके पदों का संग्रह 'हितचौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके सिवा भी कुछ स्फुट पद मिलते हैं। इस हितचौरासी की एक टीका प्रेमदास ने गद्य में किया है। इनका रचना काल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। संस्कृत का गगानुगानिनि नामक १७० श्लोकों का एक काव्य आपका रचा हुआ कहा जाता है।

महात्मा हरिदास जी निबार्क शाखा के वैष्णव थे। ये परम

भक्त, सुकवि तथा संगीत-कला के विशेषज्ञ थे। सुप्रसिद्ध तानसेन
 इन्हें अपना संगीत-गुरु मानता था और अकबर
 हरिदास स्वयं वेश बदल कर इनका गाना सुनने गया था।
 इनके जन्म-मरण आदि के विषय में विशेष कुछ
 लिखा नहीं मिलता। इनके स्फुट पद मिलते हैं, जिनके संग्रह कई
 नामों से प्राप्त हैं। ये पद गूढ़ राग रागिनियों में मिलते हैं, जिससे
 वे पढ़ने में सुखद नहीं ज्ञात होते, पर हैं सब उच्चकोटि के।

यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु का क्रीड़ा-क्षेत्र बंगाल तथा उड़ीसा
 था पर उनकी अद्भुत प्रेम स्फूर्ति, जिससे वे कृष्ण-विरह में आत्म-
 विस्मरण कर प्रत्येक नदी को कालिंदी, प्रत्येक
 चैतन्य साहित्य पर्वत को गोवर्द्धन, वनमात्र को वृंदावन समझ
 बैठते थे और विरहातिरेक में मूर्छा प्राप्त होने पर
 जिनकी एक मात्र दवा कान में कृष्ण नाम उच्चारण था, आज के
 शुष्क युग में, जब गोपियों के विरह को लोग खिलवाड़ मात्र मान
 लेते हैं, द्वापरयुग की प्रेम-लीला को निरी कपोल कल्पना नहीं रहने
 देती। ऐसे प्रेमी भक्त श्रीगौरांग के पार्षदगण ने संस्कृत तथा बंगला
 में अच्छे ग्रंथ लिखे हैं पर हिंदी में भी इनके कुछ भक्तों ने रचनाएँ
 की हैं। गदाधर भट्ट दक्षिणी ब्राह्मण थे और बड़े सुंदर पद बनाकर
 गाते फिरते थे। जीव स्वामी के उपदेश से यह वृंदावन जाकर
 चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता थे, इससे
 इनके पदों में संस्कृत शब्दावली अधिक है। संडीले के अमीन
 मूरदास मदनमोहन ब्राह्मण तथा चैतन्य संप्रदाय के वैष्णव थे।

एक बार तेरह लाख दाम अर्थात् साढ़े बत्तीस हजार रुपये खजाने में आए, जो सब साधु संतों की सेवा में व्यय कर यह वन में निकल गए। अकबर ने इन्हें क्षमा कर दिया पर ये विरक्त ही बने रहे। इनके पद भी बड़े सरल होते थे, जो स्फुट प्राप्त हैं। व्यास जी गौड़ संप्रदाय ही के कवि हैं। इन पर हितहरिवंश जी के सत्संग का बहुत प्रभाव पड़ा है। यह संस्कृतज्ञ शास्त्रार्थ-प्रिय विद्वान् थे और हित जी ही को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। यह ओड़ड़ा के रहने वाले थे। वृंदेलाखंड में इनके अब भी बहुत शिष्य हैं तथा पन्ना में इनके ठाकुर श्री युगुलकिशोर जी का मंदिर है। हित हरिवंश जी से दीक्षा लेने के अनंतर यह वृंदावन ही में रह गए। इन्होंने पदों में कृष्णलीला का वर्णन किया है और दोहों में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा नीति भी कहा है। इनकी एक रासपंचाध्यायी भी है। इस संप्रदाय के अन्य भक्त कवियों में ललितकिशोरी जी तथा ललितभायरी जी भी हो गए हैं। ये दोनों सज्जन लखनऊ के अग्रवाल वैश्य थे पर विरक्त होने पर वृंदावन ही में रहने लगे। इन लोगों का बनवाया संगमरमर का मंदिर आज भी शाह विहारी-लाल का मंदिर के नाम से वृंदावन में विख्यात है। इन लोगों ने बहुत से पद लिखे हैं, जिनमें कुछ खड़ी बोली के हैं।

सुप्रसिद्ध भक्त-कवियित्री मीराबाई मेड़ता के ठाकुर रतनसिंह राठौर की पुत्री तथा उदयपुर के कुमार भोजराज की पत्नी थीं।

अन्य भक्त कवि इनका जन्म सं० १५७३ वि० में हुआ था। शीघ्र ही विधवा होने पर कृष्ण-प्रति इनकी भक्ति इतनी

मौज थी। हाँ, उसके इस कार्य से हिंदी-कविता को प्रोत्साहन अवश्य मिला। इसके दरबार के कई सर्दारों ने सुकवियों को आश्रय दिया और स्वयं भी साहित्यसेवी हो उठे। इनकी सूची में प्रथम नाम अब्दुरहीमखाँ खानखानाँ का लेना पड़ेगा, जो विधर्मी तथा फारसी-तुर्की के पूर्ण विद्वान् होनेपर भी संस्कृत तथा हिंदी के सुकवि हुए थे। इन्होंने फारसी तथा हिंदी के बहुत से कवियों को आश्रय दिया। यह वीर तथा कुशल सेनापति थे और प्रांतीय सूबेदारी से लेकर वकील-मुतलक तक हुए। इतने कार्यों में व्यग्र रहते हुए भी इन्होंने काफी साहित्य-सेवा की है। नीति के सुंदर दोहों में सांसारिक अनुभवों को मार्मिक रूप से भर दिया है। शृंगार के सोरठे, दोहे, सबैये आदि भी अनूठे हैं। इनका अनुभव बहुत ही बढ़ा हुआ था और इनके प्रत्येक पद में उसका मर्म ऐसा व्यक्त किया गया है कि सुनते ही उसका हृदय पर असर पड़ जाता है। ब्रज भाषा तथा अवधी भाषा पर इनका विस्तृत अधिकार था। रहीम-सतसई, दोहावली, बरवै नायिका भेद, नगर-शोभा-वर्णन, शृंगार सोरठ तथा मदनाष्टक के सिवा स्फुट बरवै, कवित्त, सबैये, पद आदि भी मिलते हैं। संस्कृत में रहीम काव्य तथा खेटकौतुकम् लिखा है और फारसी में तुर्की से तुजुकेबाबरी का अनुवाद किया है। इनका जन्म सं० १६१० वि० में और मृत्यु सं० १६८२ में हुई।

रहीम के सिवा राजा बीरबल तथा राजा टोडरमल अकबर

के दो अन्य प्रिय दरबारी थे । एक ब्रह्म तथा दूसरे टोडर उपनाम से कविता करते थे । पहिले में चोज, मनोरंजन, वाक् चातुरी अधिक है और दूसरे में अनुभव तथा नीति बीरबल, टोडरमल विशेष है । इनमें प्रथम ने सुकवियों का सम्मान

करने में विशेष उदारता दिखलाई है । टोडरमल की एक पुस्तक राज्य के आय-व्यय विषयक सुनने में आई है, जो गद्य में है । इनके सिवा गंग और नरहरि अकबरी दरबार के प्रमुख कवि थे । गंग का भाषा पर पूर्ण अधिकार था । इनके वीर तथा शृंगार रस के स्फुट पद मिलते हैं, पूरा कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला । नरहरि को अकबर ने महापात्र की पदवी दी थी । इनके तीन ग्रंथ रुक्मिणी मंगल, छप्पय नीति तथा कवित्त संग्रह सुने जाते हैं । मनोहर कवि कछवाहे ठाकुर थे । फारसी में 'तौसनी' उपनाम से कविता करते थे । फारसी के पुट के कारण इनके शृंगारिक दोहों में दुरसा स्वाद आ गया है । होलराय का भी अकबरी दरबार से संपर्क था ।

अकबरी दरबार से संपर्क न रखनेवाले कवियों में सुकवि सेनापति मुख्य हैं । यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा इनका जन्म

सं० १६४६ वि० में हुआ था । यह सहृदय,

अन्य कवि

भावुक तथा कुशल कवि थे । इनकी भाषा प्रांजल

तथा रचनाएँ प्रौढ़ थीं । माधुर्य तथा प्रसाद गुण

की कमी न थी । अनुप्रासादि के होते भी स्वाभाविकता कम नहीं होने पाई । पहिले यह 'पायक मलेच्छन' के थे पर बाद को

मौज थी। हाँ, उसके इस कार्य से हिंदी-कविता को प्रोत्साहन अवश्य मिला। इसके दरबार के कई सर्दारों ने सुकवियों को आश्रय दिया और स्वयं भी साहित्यसेवी हो उठे। इनकी सूची में प्रथम नाम अब्दुरहीमखाँ खानखानाँ का लेना पड़ेगा, जो विधर्मी तथा फारसी-तुर्की के पूर्ण विद्वान् होनेपर भी संस्कृत तथा हिंदी के सुकवि हुए थे। इन्होंने फारसी तथा हिंदी के बहुत से कवियों को आश्रय दिया। यह वीर तथा कुशल सेनापति थे और प्रांतीय सूबेदारी से लेकर वकील-मुतलक तक हुए। इतने कार्यों में व्यग्र रहते हुए भी इन्होंने काफी साहित्य-सेवा की है। नीति के सुंदर दोहों में सांसारिक अनुभवों को मार्मिक रूप से भर दिया है। शृंगार के सोरठे, दोहे, सबैये आदि भी अनूठे हैं। इनका अनुभव बहुत ही बढ़ा हुआ था और इनके प्रत्येक पद में उसका मर्म ऐसा व्यक्त किया गया है कि सुनते ही उसका हृदय पर असर पड़ जाता है। ब्रज भाषा तथा अवधी भाषा पर इनका विस्तृत अधिकार था। रहीम-सतसई, दोहावली, बरवै नायिका भेद, नगर-शोभा-वर्णन, शृंगार सोरठ तथा मदनाष्टक के सिवा स्फुट बरवै, कवित्त, सबैये, पद आदि भी मिलते हैं। संस्कृत में रहीम काव्य तथा खेटकौतुकम् लिखा है और फारसी में तुर्की से तुजुकेबाबरी का अनुवाद किया है। इनका जन्म सं० १६१० वि० में और मृत्यु सं० १६८२ में हुई।

रहीम के सिवा राजा बीरबल तथा राजा टोडरमल अकबर

के दो अन्य प्रिय दरबारी थे । एक ब्रह्म तथा दूसरे टोडर उपनाम से कविता करते थे । पहिले में चोज़, मनोरंजन, वाक् चातुरी अधिक है और दूसरे में अनुभव तथा नीति बोरबल, टोडरमल विशेष है । इनमें प्रथम ने सुकवियों का सम्मान करने में विशेष उदारता दिखलाई है । टोडरमल की एक पुस्तक राज्य के आय-व्यय विषयक सुनने में आई है, जो गद्य में है । इनके सिवा गंग और नरहरि अकबरी दरबार के प्रमुख कवि थे । गंग का भापा पर पूर्ण अधिकार था । इनके वीर तथा शृंगार रस के स्फुट पद मिलते हैं, पूरा कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला । नरहरि को अकबर ने महापात्र की पदवी दी थी । इनके तीन ग्रंथ रुक्मिणी मंगल, छप्पय नीति तथा कवित्त संग्रह सुने जाते हैं । मनोहर कवि कछवाहे ठाकुर थे । फारसी में 'तौसनी' उपनाम से कविता करते थे । फारसी के पुट के कारण इनके शृंगारिक दोहों में दुरसा स्वाद आ गया है । होलराय का भी अकबरी दरबार से संपर्क था ।

अकबरी दरबार से संपर्क न रखनेवाले कवियों में सुकवि सेनापति मुख्य हैं । यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा इनका जन्म सं० १६४६ वि० में हुआ था । यह सहृदय, अन्य कवि भावुक तथा कुशल कवि थे । इनकी भाषा प्रांजल तथा रचनाएँ प्रौढ़ थीं । माधुर्य तथा प्रसाद गुण की कमी न थी । अनुप्रासादि के होते भी स्वाभाविकता कम नहीं होने पाई । पहिले यह 'पायक मलेच्छन' के थे पर बाद को

‘रघुपति-गुन गायन’ में लग गए। स्यात् इन्होंने संन्यास भी ले लिया था। इनका कवित्त-रत्नाकर तथा काव्यकल्पद्रुम प्रसिद्ध है। नरोत्तमदास का सुदामा-चरित्र अच्छा ग्रंथ है। इनके सिवा छीहल, लालचदास तथा बनारसीदास भी हुए हैं, जो साधारण कवि थे। कादिर तथा मुबारक दो मुसल्मान कवि भी अच्छे हो गए हैं।

सातवाँ परिच्छेद

उत्तर-मध्य-काल या रीति-काल

(वि० सं० १७०१—१६००)

जिस काल का इस प्रकरण में विवरण दिया जायगा और जिसकी विशेषता का पूरा दौरादौर अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में रहा, उसका आविर्भाव प्रायः एक विषय प्रवेश शताब्दी पहिले भक्तिकाल के पूर्ण ऐश्वर्य-प्राप्ति के समय हो चुका था । जिस स्वर्णयुग के श्रेष्ठतम भक्त कवि तुलसीदास तथा सूरदास थे और जिनके कारण वह सौर काल कहलाया था, उन्हीं चंद्र-सूर्य के प्रकाश में रीति ग्रंथों की आवश्यकता जनसाधारण को ज्ञात हो चुकी थी और इस ओर भी उसने कार्य आरंभ कर दिया था । जिस प्रकार भाषा के बन जाने पर उसके नियंत्रण के लिये व्याकरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उच्चकोटि के काव्यग्रंथों के निर्माण के अनंतर ही उन्हें आधारभूत मानकर छंदशास्त्र तथा रीतिग्रंथों का प्रणयन हुआ था । हिंदी के सौभाग्य से उसे उसकी माता संस्कृत का अमूल्य, अक्षय कोष मिल गया है, जिससे उसके पास सहज ही बिना परिश्रम के बहुत-सा साहित्य तैयार करने का साधन प्रस्तुत है, पर हिंदी-साहित्य-सेवियों ने अपने दुर्भाग्य से, जो प्रायः छ शताब्दियों से भारत पर मँडरा रहा है, उस साधन का प्रायः

कुछ भी उपयोग नहीं किया है। तब भी रीति ग्रंथों की आवश्यकता ज्ञात हो चुकी थी और उसके प्रणयन का आरंभ भी हो चुका था। इस युग के पहिले के सुकविगण शास्त्रज्ञ थे तथा हिंदी में काव्यकला पर ग्रंथों के न होने पर भी उस विषय के, संस्कृत ग्रंथों के कारण, पूर्ण ज्ञाता थे। रीतिग्रन्थों में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः सभी अन्य कवियों ने काव्य के एक एक अंग पर ग्रंथ लिखे हैं और अपनी कवित्वशक्ति दिखलाने के लिए ऐसे काव्यांगों को साधन मात्र बना लिया है। अलंकार, नायिका-भेद, नव्य-शिंग, ऋतु-वर्णन आदि सभी पर ग्रंथों की भरमार हो गई है पर वे सभी ग्रंथ उनके रचयिताओं की कवित्वशक्ति के परिचायक हैं, उनके काव्य-कला के ज्ञान के नहीं। तात्पर्य यह कि संस्कृत में जिस प्रकार आचार्य वर्ग अलग था, उस प्रकार हिंदी में न हो सका और ऐसा न होने से रीतिग्रंथों के उपयुक्त विवेचना नहीं हो सकी। निपुण, मर्मज्ञ तथा भावुक सुकविगण भी इसमें संमिलित हैं। अपर्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक परिभाषा आधे दोहे में देकर उनके उदाहरण लिखने में पूरी कवित्वशक्ति दिखलाई गई है। अर्थात् इस काल का नाम-करण नाम मात्र के रीति-ग्रंथों के ढेर लग जाने के कारण पड़ गया है, न कि सच्चे विवेचनात्मक ग्रंथों के लिखे जाने के कारण। ऐसे ग्रंथों का मनन कर काव्यकला-कुशल होने का प्रयत्न निष्फल है। इसका एक कारण उस काल में गद्य का अभाव भी है, जिसकी गंभीर विवेचना के लिए विशेष आवश्यकता रहती है।

रीति ग्रंथों के लिखने की इस विशेषता ने इस काल में साहित्य को अन्य विषयों की ओर प्रसरित होने नहीं दिया । प्रत्येक कवि ऐसी पुस्तकें रचकर ही अपने परिश्रम तथा प्रतिभा की इतिश्री समझते थे । उनकी निजी प्रतिभा, पांडित्य, अनुभव, मनन आदि को व्यक्त होने का अवसर नहीं मिल सका और सब उसी एक साँचे में ढलते चले गए । यही कारण है कि इस काल के कवियों की तुलनात्मक आलोचना करने में विशेष भिन्नता, सिवा भाषा आदि के, नहीं दिखलाई जा सकती है । इसी काल में कविता की भाषा का भी कुछ नियंत्रण हो जाना चाहिए था, पर 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसिहु होय' सिद्धांत के कवियों को इसकी जरूरत क्या थी । एक ही शब्द को दस प्रकार से तोड़ मरोड़ कर प्रयोग करने की सुविधा के लोभ को कोई भी संवरण न कर सका । ब्रज भाषा के कवि अवधी का और अवधी के कवि ब्रज भाषा का बराबर सुविधा के कारण मिश्रण करते जा रहे थे । साथ साथ फारसी की शब्दावली भी हिंदी में आदि काल ही से मिलती चली आ रही थी, पर भाषा के नियंत्रण की कमी से कविगण 'बुलन्द' को 'बिलन्द' करते रहे । रीति काल में इस प्रकार के प्रयोग बहुत बढ़े और कहीं कहीं ऐसा रूप बिगड़ा है कि उन्हें समझना कठिन हो जाता है ।

भक्ति काल के कवियों ने प्रधानतः स्वांतः सुखाय तथा भक्ति-प्रेम में मग्न और तन्मय होते हुए अपने अपने इष्ट की लीला का वर्णन कर अपनी वाणी पवित्र की थी और पद-दलित भारत की

मूखती आशावल्ली को उस मधुर पीयूषवर्षी दिव्य वाणी से पुनर्जीवित किया था। आशा संचरित हो जाने पर तथा देश में शांति-सुख स्थापित होने पर स्वभावतः आशा के आधार की भक्ति कम होने लगी और सम्राट्, मांडलिक, राजा आदि का आश्रय विशेष प्रिय हो उठा। यहाँ तक कि कुछ गिरे हुए कवियों ने लाखों मनुष्यों के हृदयाधार इष्टदेव राधाकृष्ण को साधारण नायिक-नायक मानकर उनकी केलि-वर्णन कर अपने कलुषित हृदय का परिचय देते हुए अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर धनोपार्जन किया था। धनलिप्सा इस काल के कवियों की एक खास विशेषता है। इस काल में शृंगार रस की कविता अधिक हुई और अन्य सभी रस दब गए। शृंगार रस स्वतः कभी भी निच नहीं है। उसकी निंदा या अनिंदा होना उसके प्रयोग पर निर्भर है। दुग्ध अमृत होते भी सर्प के मुख में विष हो जाता है। इस रीति काल में मुक्तक पद बहुत लिखे गए और बहुत ही अनूठे अनूठे।

सं० १५६८ वि० में हिततरंगिणी नामक ग्रंथ दोहों में बनाकर कृपाराम कुछ कुछ रस निरूपण कर चुके थे। इन्होंने अन्य कवियों के रीति ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनके दोहे भी बड़े सुंदर, सरस और भावमय हैं और कुछ बिहारी के दोहों से मिल जाते हैं। मोहनलाल मिश्र ने सं० १६१६ वि० में शृंगार-सागर नामक

ॐ पं० रामचंद्र शुक्ल, रायबहादुर श्यामसुंदरदास आदि ने वहाँ गोप का उल्लेख करते हुए उसका सन् १६१५ में होना लिखा है पर

। ग्रंथ लिखा । करणेश बंदीजन ने सं० १६३७ के लगभग कर्ण-
ण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण तीन ग्रंथ लिख डाले थे । यह
द्वार के दरबार में नरहरि महापात्र के साथ जाते आते थे ।
। समय बलभद्र मिश्र ने नखशिख तथा रहीम ने बरवै नायिका-
। लिखा । इन सभी सुकवियों ने काव्यकला के एक एक अंग
को लिया था पर रीति काल के आविर्भाव काल में एक मात्र
। कवि केशवदास जी ने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप
प्रतिपादन किया था । इनकी रचनाओं के लगभग पचास वर्ष
तक कोई अच्छा रीति ग्रंथ नहीं लिखा गया, जिसके अनंतर
। काल का आरंभ होता है ।

आचार्य केशवदास जी ने रीति ग्रंथों कविप्रिया तथा रसिक-
। के सिवा रामचंद्रिका, विज्ञानगीता तथा वीरसिंह-चरित लिखे
हैं, जिससे यह निरे रीति-वादी ही नहीं कहे जा
केशवदास सकते । अंतिम दो रचनाएँ साधारण कोटि की
हैं और रामचंद्रिका प्रबंध काव्य होते हुए भी
। के उदाहरणों का संग्रह तथा काव्य-चमत्कार का विशेष
। कि हुआ है । यह संस्कृत के विद्वान् तथा अलंकारशास्त्री थे
। इसी कारण हिंदी काव्यक्षेत्र में उत्तीर्ण होने पर स्वभावतः
। ने शास्त्रानुमोदित प्रथा ही पर साहित्य का प्रचार करना उचित

। आधार 'खोज की रिपोर्ट' में सन् १७६७ दिया हुआ है । यह
। द्वे मिश्रबंधु-विनोद से आगई है पर उक्त ग्रंथ के दूसरे संस्करण में
। ग्रीक कर दिया गया है ।

समझा। हिंदी साहित्य में यह प्रथम महाकवि हो गए हैं, जिन्होंने संस्कृत के आचार्यों की परंपरा का हिंदी में सूत्रपात किया था। यह सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र तथा काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६१२ में और मृत्यु सं० १६७४ वि० में हुई। यह ओढ़छा-नरेश राजा वीरसिंह देव तथा उनके भाई इंद्रजीतसिंह के आश्रित थे। यहाँ इनका इतना मान था कि वे कभी अन्य किसी की आश्रय की खोज में कहीं नहीं गए।

रसिकप्रिया सं० १६४८ में तैयार हुई। यह ग्रंथ रस पर लिखा गया है। सं० १६४८ में रची गई कविप्रिया में अलंकारों की सम्यक् विवेचना की गई है। रामचंद्रिका भी सं० १६४८ में समाप्त हुई थी। प्रबंधकाव्य होते हुए भी संबंध कुछ खड़ा पुखड़ा सा है और छंदों की बहुलता से यह पढ़ने में और भी विश्रृंखल हो गया है तथा छंदों के उदाहरणार्थ लिखा गया ज्ञात होता है। अलंकार आदि काव्यकला के चमत्कार-प्रदर्शन की ओर इसमें विशेष प्रयत्न किया गया है। चार पाँच तक अर्थ देने वाले श्लिष्ट पद इन्हीं की लेखनी से निकल सके हैं। विज्ञानगीता कथोपकथन के रूप में लिखा गया है। वीरसिंह-चरित में महाराज वीरसिंह देव का कुछ चरित वर्णित है। रत्नबावनी में इंद्रजीत-सिंह के भाई रत्नसिंह का कुछ यशकीर्तन है। सं० १६६६ में जहाँगीर-जस-चंद्रिका में जहाँगीर का यश कहा गया होगा।

चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर ये चार भाई थे। चारो ही कवि थे, पर प्रथम तीन विशेष प्रसिद्ध हुए। तिकवाँ-

पुगनिवासी रत्नाकर त्रिपाठी के ये पुत्र थे । चिंतामणि ने सं० १७०७ में कविकल्पतरु लिखा था । इनके अन्य त्रिपाठीबंधु ग्रंथ छंदविचार, काव्यविवेक, काव्य-प्रकाश तथा रामायण हैं । चिंतामणि ने इस प्रकार काव्य के सभी अंगों पर सुन्दर सानुप्रास भाषा में लिखा है । इनके आश्रयदाता मकरंदशाह भोंसला, शाहजहाँ आदि थे ।

भूषण वीररस के प्रसिद्ध कवि हो गए हैं । इनका नाम पति राम कहा जाता है और 'भूषण' उपनाम इन्हें सोलंकी राजा चित्रकूटपति 'हृदयराम-सुत रुद्र' ने दिया था, जिस नाम से ही यह प्रसिद्ध हुए । यह आश्रय की खोज में बहुत घूमे; पर यह प्रसन्न हुए शिवा जी, साहू तथा छत्रसाल के दरबारों में । इन्होंने शिव-राजभूषण अलंकार ग्रंथ शिवा जी के लिए बनाया । इनके अन्य ग्रंथ भूषण-उल्लास, दूषण-उल्लास और भूषण-हजारा सुने जाते हैं । शिवराजभूषण के सिवा शिवाबावनी, छत्रसालदशक और कुछ स्फुट पद प्रकाशित हो चुके हैं । भूषण की कविता बड़ी ही लोकप्रिय हुई । इन्हें शिवा जी तथा छत्रसाल से देशभक्त साहसी वीर नायकरूप में प्राप्त हुए थे, जिनके यश-कीर्तन को समग्र देश ने बड़ी उत्कंठा के साथ सुना था । कुछ लोगों का यह कथन कि भूषण की कविता सुनकर शिवा जी तथा छत्रसाल में देश-त्वातंत्र्य जागृत हो उठा था, कोरा भ्रम मात्र है । ये उन लोगों के दरबार में उस समय गए थे, जब दोनों ही साधारण स्थिति से उस अवस्था को पहुँच चुके थे, जब कि उनके नाम सारे देश में प्रसिद्धि प्राप्त

कर चुके थे और वे कविजी को लाखों देने योग्य हो गए थे । भूषण ने वीररस के फड़कते हुए कवित्त कहे हैं । इनके एक मात्र ग्रंथ शिवराजभूषण में अलंकारों ही का निरूपण हुआ है, इसलिए यह रीतिकाल ही के अंतर्गत आते हैं पर अलंकारों का विवेचन ऐसे प्रसिद्ध कवि के योग्य नहीं हुआ है । ओजपूर्ण होते हुए भी इनकी भाषा में भरती तथा तोड़े-मरोड़े शब्दों की कमी नहीं है ।

मतिराम रीतिकाल के प्रसिद्धतम कवियों में से हैं । इनके रसरज तथा ललित-ललाम ग्रंथ रस तथा अलंकार के अच्छे ग्रंथ हैं और बराबर उन विषयों के अध्ययन में काम आते हैं । इनमें जो रससिक्त प्रसादमय उदाहरण दिए गए हैं, उनमें रस अलंकारादि अच्छी तरह समझ में आ जाते हैं । इनके सिवा छंदसार, साहित्यसार, लक्षण-शृंगार तथा मतिराम सतसई भी इनकी रचनाएँ हैं । अंतिम प्रकाशित भी हो गई है । इसके दोहे अत्यंत सरस तथा भावपूर्ण हैं । मतिराम की भाषा में बनावट तथा आडंबर बिल्कुल नहीं है । जैसे इनके भाव नैसर्गिक होते थे वैसी ही भाषा भी रहती थी । यह अपने भावों की गंभीरता तथा भाषा-सौष्ठव के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं । यह शृंगारिक ही कवि हैं पर अपने आश्रय-दाता बूंदीनरेश भाऊसिंह के यशवर्णन में कुछ वीर-रसपूर्ण उदाहरण भी ललित-ललाम में दिए हैं, जिसे उन्हीं राजा के लिए लिखा था ।

नीलकंठ उपनाम जटाशंकर सबसे छोटे भाई थे । इन्होंने अमरेश विलास नामक ग्रंथ लिखा है । एक कवित्त में इन्होंने किसी उदैभानु की प्रशंसा की है । यमक इन्हें प्रिय था ।

मारवाड़-नरेश महाराज यशवंतसिंह अपने समकालीन भारतीय नरेशों में बड़े प्रतापी हो गए हैं और इन्होंने प्रायः अपनी समग्र

अवस्था युद्धक्षेत्र ही में व्यतीत की थी । सम्राट् यशवंतसिंह औरंगजेब भी इनका हृदयस्थ भय के कारण

सम्मान करता था । यह संस्कृत तथा भाषा साहित्यों के अच्छे मर्मज्ञ थे तथा तत्त्वज्ञानी थे । इन्होंने कई ग्रंथ स्वयं लिखे तथा अनेक कवियों और विद्वानों को आश्रय दिया । अपनी सर्वोत्तम रचना भाषाभूषण के कारण यह हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में परिगणित हैं । इन्होंने चंद्रालोक की संचित प्रणाली ग्रहण कर एक ही दोहे से छोटे छंद में परिभाषा तथा उदाहरण दोनों दिया है और इस कार्य में यह सफल भी खूब हुए हैं । इसके अतिरिक्त इन्होंने अनुभव-प्रकाश, आनंद-विलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार और अपरोक्षसिद्धांत लिखे, जो वेदांत-पंचक के नाम से छप चुके हैं । इन्होंने प्रबोध-चंद्रोदय नाटक का भी पद्यमय अनुवाद किया है, जिसमें कुछ गद्य भी है । इनके सिवा स्फुट-नीति के दोहे तथा कुछ शृंगारिक पद भी मिलते हैं । इन महाराज का साहित्य-क्षेत्र में आचार्यत्व की दृष्टि से विशेष स्थान है, पर कवित्व-शक्ति भी इनमें कम नहीं थी ।

हिंदी-साहित्य के सुप्रसिद्धतम नौ कवियों में बिहारी की भी गणना है । यह माथुर चौबे कहे जाते हैं । इनका जन्म सं०

१६६० वि० के लगभग ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर में हुआ माना गया है । यह बुंदेलखंड

बिहारी

तथा मथुरा में अधिकतर रहे । जयपुर-नरेश मिर्जाराजा जयसिंह के यह आश्रित थे । कहा जाता है कि यह औरंगजेब के दरबार में भी गए थे । बिहारी ने सात सौ दोहे बनाए, जिनका संग्रह बिहारी-सतसई के नाम से प्रसिद्ध है । इनमें कुछ दोहे नीति संबंधी हैं, बाकी कुल शृंगार रस से सिक्त हैं । इनके एक एक दोहे अमूल्य रत्न हैं और इनके कारण इनकी प्रसिद्धि खूब हुई । पचासों टीकाएँ हुईं, संस्कृत तथा उर्दू में अनुवाद हुए और सुकवियों ने इन पर कवित्त तथा कुण्डलियाएँ लिखीं । इनके प्रत्येक दोहे छोटे छोटे हृदयग्राही सजीव चित्र हैं जो 'बेधै सकल सरीर' । बिहारी की प्रवृत्ति विशेषतः कविना-कामिनी को अलंकृत करने की ओर थी और उन्होंने हाव भाव, रस, वस्तु सभी को अत्यंत मनोमोहक व्यंजनाओं द्वारा दोहों में पल्लवित किया है । इनकी अत्युक्ति आदि कहीं कहीं क्रियास के बाहर की बातें हो गई हैं । इनकी भाषा बड़ी सुव्यवस्थित तथा साहित्यिक है और शब्दों के रूप एक निश्चित प्रणाली पर व्यवहृत हैं । दोहे से छोटे छंद में कई अलंकारों की सफल योजना करने में बिहारी अद्वितीय हो गए हैं । इनकी सतसई परिभाषा रहित उदाहरणों का संग्रह सा ज्ञात होता है ।

यह इटावा-निवासी ब्राह्मण थे । कुछ लोग इन्हें सनाढ्य और कुछ लोग दुसरिहा कान्यकुब्ज मानते हैं । इनका जन्म सं० १७३०

में हुआ था और मृत्यु सं० १७८५ वि० के लग-
 बेव भग हुई थी । इन्होंने सं० १७४६ वि० में सोलह
 वर्ष की अवस्था ही में भावबिलास की रचना की

थी। यद्यपि यह आश्रय की खोज में बहुत घूमे पर इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता नहीं मिला। इन्होंने बावन या बहत्तर ग्रंथ लिखे थे पर अब इनमें केवल २६ ग्रंथों का नाम मिलता है। इनमें भी कम प्रकाशित हुए हैं। भावविलास और अष्टयाम औरंगजेब के द्वितीय पुत्र आजमशाह को मुनाया गया था। इसके अनंतर कई आश्रयदाताओं का उल्लेख मिलता है पर वे बहुत साधारण लोग रहे होंगे। देव जी का यह स्वभाव था कि वह अपने अन्य ग्रंथों से थोड़े छंद लेकर और कुछ नये मिलाकर किसी आश्रयदाता के नाम पर ग्रंथ तैयार कर लेते थे। देव जी बड़े प्रतिभासंपन्न कवि और रीति काल के मुख्य आचार्यों में से थे पर इनका आचार्यत्व भी इस काल के अनुसार ही रहा अर्थात् ये भी आचार्यत्व के योग्य विशद व्याख्या नहीं कर पाए। देव जी की कविता अवश्य ही बहुत उत्कृष्ट थी पर वह लोकप्रिय न हो सकी। क्यों नहीं हुई इसका कारण विवादास्पद है। आज भी देखा जाता है कि बड़े बड़े प्रोग्रेसिव आचार्य रचनाओं को सादर उच्च कक्षाओं में रखकर उसे लोकप्रिय बनाने में कासिर मालूम होते हैं। इनकी कविता का विषय प्रायः वही रहा है जो बिहारी, पद्माकर आदि का है, इसलिए उसे जनसाधारण की रुचि के विपथगामी भी नहीं कह सकते। देव जी का काव्यक्षेत्र सौंदर्योपासना ही के भीतर अत्यंत विस्तृत रहा है। प्रारंभिक रचनाओं में शृंगार रस लबालब भरा है। इनका प्रेम लौकिक ही है, विशेष ऊँचे नहीं उठा है। देवजी का भाषा पर पूरा अधिकार था पर कहीं कहीं भरती के

पद और तोड़े मरोड़े मनगढंत शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं। अवस्था के उतार पर कुछ विरक्तिपूर्ण रचना भी की गई है। सारांश यह कि देव जी भी हिंदी-साहित्य के एक जाज्वल्यमान रत्न हैं और रीति-काल के तो यह एक प्रकार अग्रणी हैं।

कुलपति मिश्र बिहारीलाल के भांजे और मथुरिया चौबे परशुराम के शिष्य थे। यह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और मिर्जाराजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह के आश्रय कुलपति मिश्र तथा में इन्होंने रसरहस्य नामक ग्रंथ लिखा। इसे सुखदेव मिश्र इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के आधार पर बनाया है। समग्र ग्रंथ ब्रज-भाषा पद्य में है। कहीं कहीं गद्य में कुछ टीका सी कर दी गई है पर जैसा चाहता था वैसा गंभीर निरूपण नहीं हो सका। भाषा भी क्लिष्ट हो गई है। इसके सिवा द्रोणपर्व, नखसिख, संग्रामसार और युक्तिरंगिणी चार ग्रंथ भी इनके मिले हैं। कंधिला-निवामी सुखदेव मिश्र ने सात आठ ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें वृत्तविचार, छंद-विचार, रसार्णव आदि रीति ग्रंथ हैं। इन्हें कई आश्रयदाताओं से सहायता मिली थी। इनमें कवित्व तथा आचार्यत्व समान ही था। छंदों का अच्छा निरूपण किया है। यह विरक्त भी थे, जैसा कि इनके अध्यात्म-प्रकाश ग्रंथ से ज्ञात होता है।

प्रतापगढ़ के अंतर्गत ट्योंगा के निवासी भिखारी दास 'दास' श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने लगभग नौ ग्रंथ लिखे हैं, जिन

में काव्य-निर्णय विशेष प्रसिद्ध है। काव्य के प्रायः सभी अंगों का इन्होंने विस्तृत रूप से निरूपण किया है, पर तब भी इस काल के अनुरूप यह आचार्यत्व से कवित्व को अलग न रख सके। हाँ, यह कहा जा सकता है कि इनमें कवित्वशक्ति से आचार्यत्व के गुण विशेष थे। रस सारंग में शृंगार का अच्छा विवरण है। शृंगार-निर्णय भी मनोहर तथा सरस ग्रंथ है। छंदार्णव पिंगल भी अच्छा ग्रंथ है। यद्यपि यह अवधी भाषा-प्रधान स्थान के निवासी थे पर व्रज भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा सरल तथा आडंबरहीन है। दास जी ने नीति की सूक्तियाँ भी कहीं हैं। यह सुकवि हो गए हैं और इनका काव्य-निर्णय आज भी आदर से पढ़ा जाता है।

तोषनिधि प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कवि हो गए हैं। इन्होंने रस और भाव पर सुधानिधि नामक बड़ा ग्रंथ बनाया है। लक्षण भी दिए हैं तथा उदाहरण भी सरस हुए हैं। इनकी तोषनिधि, सोमनाथ भाषा में सौकुमार्य तथा प्रवाह है, जिससे भाषा पर इनका अच्छा अधिकार मालूम होता है। सोमनाथ माथुर ब्राह्मण थे। इन्होंने रस-पीयूष-निधि नामक विशद ग्रंथ में पिंगल, ध्वनि, भाव, रस आदि सभी विषयों का पूरा निरूपण किया है। यह कवि भी भावुक तथा सहृदय थे और भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके तीन और ग्रंथ भी मिले हैं, जिनमें एक प्रबंध-काव्य नाटक रूप में भी लिखा गया है।

यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण कालिदास त्रिवेदी के पौत्र थे, जिन्होंने नायिका भेद पर बारबधू-विनोद बनाया था। इनका हजारा प्रसिद्ध है। इनके पुत्र उदयनाथ कवींद्र भी सहृदय कवि हो गए हैं, जिन्होंने शृंगार पर रस-चंद्रोदय ग्रंथ लिखा है। इनके दो ग्रंथ और मिले हैं। इनके पुत्र दूलह कवि हुए, जिन्हें किसी ने लिखा है कि 'और बराती सकल कवि, दूलह दूलह राय'। इनका कवि-कुल-कंठाभरण सवैया कवित्त में एक छोटा-सा ग्रंथ है पर माधुर्य, प्रौढ़ता आदि के कारण लोक-प्रिय तथा मनोरंजक हो उठा है। इनके कुछ स्फुट छंद भी मिलते हैं।

यह लखनऊ-निवासी वाजपेयी ब्राह्मण थे। इन्होंने नवरस-तरंग, शृंगार भूषण तथा नानारावप्रकाश तीन ग्रंथ बनाए। इनके स्फुट पद भी बहुत मिलते हैं। भड़ौआवाले बेनी ने बेनीप्रवीन भेद करने के लिए इनसे प्रसन्न होकर इन्हें 'प्रवीन' उपाधि दी थी। पहिला ग्रंथ नायिका, रस आदि पर लिखा गया है। यह ग्रंथ बहुत अच्छा बन पड़ा है और इसकी भाषा संयत तथा चलती हुई है। सरसता, मधुरता आदि के कारण यह रीति-काल के अच्छे कवियों की रचनाकी श्रेणीमें रखने योग्य हैं।

यह बांदा के तैलंग ब्राह्मण मोहनभट्ट के पुत्र थे। भट्टजी स्वयं विद्वान् तथा सुकवि थे। इन्होंने नागपुर, पन्ना, जयपुर आदि कई राज्यों में प्रतिष्ठा तथा जागीरें पाई थीं। पद्माकर जी का जन्म सं० १८१० वि० में और मृत्यु सं०

१८६० वि० में हुई थी। यह नौने अर्जुनसिंह, हिम्मत बहादुर, रघुनाथ राव, जयपुराधीश प्रतापसिंह और उनके पुत्र जगतसिंह तथा दौलतराव सींधिया के आश्रित रहे। इन्होंने हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा तथा गंगालहरी बनाई है। इनकी भाषा भाव की अनुवर्तिनी रही है। कहीं सरल मधुर प्रवाह है तो कहीं दर्पपूर्ण ओज भरा हुआ है। अनुप्रास का बाहुल्य है पर सर्वत्र नहीं है। जहाँ लंबा वर्णन आ गया है वहाँ शब्द-चमत्कार दिखलाने के लिए ऐसा हो गया है। यह शृंगार रस-प्रधान कवि हैं और इनके पद्यों के हर एक शब्द में यह रस लबालब भरा हुआ है। यह प्रबंध काव्य लिखने में कुशल नहीं थे। रामरसायन, जो इनकी रचना कही जाती है, इसका उदाहरण है। मुक्तक छंद लिखने में यह अत्यंत सफल हुए। यह रीति-काल के उत्कृष्टतम कवियों में से थे।

चरखारी-नरेश विक्रमसाहि के आश्रित प्रतापसाहिने व्यंग्यार्थ-कौमुदी तथा काव्य-विलास दो प्रसिद्ध ग्रंथ बनाए। इनके सिवा

नौ-दस ग्रंथ इनके और रचे हुए मिलते हैं। यह

प्रतापसाहि अत्यंत सफल सुकवि हुए पर साथ ही इनमें

आचार्यत्व की मात्रा भी कम नहीं थी। रीति-

काल के यह प्रायः अंतिम प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था। वह कहीं भी विशृंखल या शिथिल नहीं है और न अनुप्रास ही अरुचिकर होने पाया है।

रीति-काल का परिशिष्ट

इस काल के विशिष्ट कवियों के सिवा भी इसमें बहुत से अन्य उत्कृष्ट कविगण हुए हैं, जिनका अत्यंत संक्षिप्त विवरण देना इस हिंदी-साहित्येतिहास में आवश्यक है। इन कवियों में प्रबंध काव्य लिखनेवाले कम और मुक्तक—ज्ञान-नीति संबंधी या शृंगारिक—लिखनेवाले अधिक हुए हैं। अंतिम कोटिवाले कवियों के पदों में अलंकार, रस आदि बराबर उदाहृत हुए हैं पर उन लोगों ने सबको शृंगलाबद्ध करके रीति ग्रंथ तैयार करने का प्रयत्न कभी नहीं किया। ऐसे कवियों में घनानंद, रसखान, ठाकुर आदि प्रमुख हैं। ज्ञान तथा नीति-संबंधी कविताएँ भी इस काल में काफी हुई हैं, जिनमें धृंद, गिरधर, गिरिधरदास, घाघ आदि मुख्य हैं। प्रबंध-काव्य इस रीति-काल के बीच काफी लिखे गए हैं और उनमें कुछ काव्य-कला की दृष्टि से उच्च कोटि के भी हैं, पर इस काल में इस प्रकार के काव्यों की उन्नति न हो सकी। छत्रप्रकाश, सुजानचरित, महाभारत, भाषा भागवत, हम्मीरहठ, जरासंधवध, ब्रजविलास आदि इस काल के अच्छे प्रबंध काव्य हैं।

जोधपुर नरेश जसवंतसिंह के भाई राव अमरसिंह का यश-कीर्तन बनवारी नामक किसी कवि ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में किया है। यह शृंगारिक कविता भी अच्छी करते थे। सबल सिंह

चौहान ने महाभारत का भाषानुवाद दोहे और चौपाइयों में लिख डाला है। इसके सिवा इन्होंने दो-एक अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं। कृष्णगढ़-निवासी वृंद कवि की सतसई प्रसिद्ध है। इनके अन्य दो ग्रंथ शृंगार-शिक्षा तथा भाव-पंचाशिका भी मिले हैं। विजय-मुक्तावली में छत्रसिंह ने महाभारत की कथा स्वतंत्र रूप से कही है। बैतालभट्ट ने नीति की कविताएँ की हैं।

शेख रँगरेजिन के फंदे में फँसकर ब्राह्मण होते हुए भी इसने उससे निकाह कर लिया और स्वतः मुसल्मान हो गया। यह औरंगजेब के प्रथम पुत्र मुअज्जम का आश्रित आलम था, जो जाजऊ के युद्ध में विजय प्राप्तकर बहादुर शाह या शाहआलम प्रथम की पदवी से गद्दी पर बैठा था और सन् १७१२ ई० की फरवरी में मरा था। इसकी रचनाओं में 'आलम-केलि' तथा स्फुट कविताएँ मिलती हैं। शेख रँगरेजिन भी कविता करती थी। इनकी कविता में प्रेम की मात्रा प्रचुर थी तथा इन्होंने विरह की अनूठी उक्तियाँ कही हैं। भाषा स्वच्छ तथा सुगठित थी। माधवानल कामकंदला का लेखक दूसरा आलम था, जो अकबर के समय में हुआ था।

सिख संप्रदाय के संस्थापक नानक तथा अन्य सभी गुरुओं ने हिंदी में पद लिखे हैं और उपदेश के लिए हिंदी ही को अपनाया है पर अंतिम गुरु गोविंदसिंह ने कविता की ओर विशेष दृष्टि दी थी। हिंदू संस्कृति पर इनकी पूर्ण आस्था थी और उसकी रक्षा के लिए इनकी

दोनों तलवारें खुली रहती थीं। इनकी कविता सुन्दर तथा ओजपूर्ण होती थी। इन्होंने सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश, प्रेम-सुमार्ग, बुद्धिसागर और चंडी-चरित्र लिखा है।

प्रधान-निर्वाणी श्रीधर या मुरलीधर ने जंगनामा में जहाँदार शाह तथा फर्रुखसियर के युद्ध का अनेक छंदों में वर्णन किया है। इसके सिवा नायिकाभेद आदि कई रचनाएँ

श्रीधर इनकी सुनी जाती हैं। युद्ध-वर्णन में इन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की है।

गोरेलाल पुरोहित उपनाम लाल बुंदेलखंड निवासी थे। इन्होंने पन्ना राज्य के संस्थापक महाराज छत्रसाल का चरित्र दोहे चौपाई में व्योरेवार तथा ऐतिहासिक घटनाओं के सचचे

लाल चित्रण के साथ वर्णन किया है। काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रंथ बहुत अच्छा बन पड़ा है। प्रबंध-

कौशल, वर्णन-शैली तथा अकृत्रिमता सभी उच्च कोटि की हैं। देश-भक्त वीर की कथा होने से देशदशा का भी उल्लेख किया है। इनका एक और ग्रंथ विष्णु-विलास भी कहा जाता है।

यह जाति के कायस्थ थे और मुहम्मदशाह बादशाह के मीर मुंशी थे। यह नादिरशाही में लगभग पचास वर्ष की अवस्था में मारे गए। इनकी एक प्रेमिका सुजान वेश्या

जनानंद थी, जिसके कारण ये दरबार से निकाले गए पर उसकी बेवफाई से विरक्त होकर यह वृंदावन

में रहने लगे। इन्हें आरंभ ही में माशूक की बेवफाई हाथ लगी

थी, इससे इनकी कविता में वियोग शृंगार ही विशेष है। इनमें प्रकृत्या रादन-शीलता अधिक थी, इसीसे इनकी विरहोक्तियों में गंभीरता तथा मर्मस्पर्शिता है। भाषा भी इनकी ऐसी स्वच्छ, सुथरी तथा सरस थी कि यह इसके लिए अद्वितीय समझे जाते हैं। दिल्ली की दरबारदारी में रहकर जुबाँदानी का ऐसा दावा रखना ठीक ही है। इनका सुजान-सागर प्रकाशित हो गया है। इनके अन्य ग्रंथ विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली, कृपाकंद, सुजानहित, इस्क-लगा-गया प्रीतिपायग कहे जाते हैं। इनकी कविता का एक बड़ा संग्रह छत्रपुर में मिला है, जिसमें लगभग तीन सहस्र छंद तथा पद हैं।

रीवा-राजवंश कवियों को आश्रय देने में प्रख्यात है पर उन्हीं नरेशों में कभी कभी बहुत ही अच्छे सुकवि तथा विद्वान् भी हो गए हैं, जिनमें महाराज विश्वनाथसिंह विश्वनाथसिंह प्रमुख हैं। इन्होंने प्रायः तीस-वत्तीस पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कई काफी विशद हैं। इनका आनंद-रघुनंदन नाटक हिंदी नाटकों में पहिला नाटक होने से चिरस्मरणीय है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और यह काव्यांगों के पूर्ण ज्ञाता थे। वर्णन-शैली भी इनकी निज की थी।

कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंह जी का जन्म सं० १७५६ वि० में हुआ था। पिता की मृत्यु पर भाई ने राज्य पर अधिकार कर लिया था, जिस पर मराठों की नागरीदास जी सहायता से इन्होंने अपना अधिकार जमाया। इसके अनंतर इस गृह कलह से विरक्त

होकर यह वृंदावन चले गए। इन्होंने अपना उपनाम नागरीदास रखा था। इनकी लिखी हुई प्रायः ७३ रचनाएँ मिली हैं। इनकी उपपत्नी बनीठनी जी भी कवियित्री तथा भक्त थीं, जो इनके साथ वृंदावन में रहती थीं। नागरीदास जी की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं, जिससे कविता करने में इनका अच्छा अभ्यास ज्ञात होता है। इनकी रचना में गेय पदों के सिवा कवित्त सबैया आदि अनेक छंद व्यवहृत हुए हैं। यह भक्त कवि थे और इन्होंने कृष्णलीला-संबंधिनी ही कविता की है, जो केवल कविता का मज्जा लेनेवालों को पिष्टपेषण मात्र मालूम होगा।

हम्मीर रासो के रचयिता जोधराज गौड़ ब्राह्मण थे। यह ग्रंथ सं० १८५७ वि० में छप्पय छंदों में लिखा गया है। इस ग्रंथ में रणार्थभौर के प्रसिद्ध वीर हम्मीर देव तथा जोधराज अलाउद्दीन खिलजी के युद्धों का वर्णन है। शरण आए हुए की रक्षा करना क्षत्रियोचित कार्य ही युद्ध का कारण दिखलाया गया है। भाषा ओजस्विनी तथा वीर गाथा के उपयुक्त है। काव्य-गुण की भी कमी नहीं है।

पन्ना-निवासी बख्शी हरकिमुन जी के पुत्र हंसराज दरबारियों में से थे। सखी संप्रदाय के विजयसखी के यह शिष्य थे तथा इनका सांप्रदायिक नाम प्रेमसखी था। इनका हंसराज बख्शी स्नेहसागर ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। नौ तरंगों में सार छंद में कृष्णलीला वर्णित है। भाषा इनकी बहुत ही सुंदर तथा सुगठित है और कहीं भी भरती के या

तोड़े मरोड़े शब्द नहीं मिलते। शब्द-चमत्कार का बाहुल्य नहीं है। भावों की व्यञ्जना अत्यंत स्वाभाविक रूप से की गई है। इनके अन्य छोटे छोटे कई ग्रंथ खोज में मिले हैं।

इनका जन्म सं० १७६५ में पुष्कर के किसी गौड़ ब्राह्मण के गृह में हुआ था। ये राधावल्लभीय थे तथा गोसाईं जी के पिता के गुरु-

भाई होने से चाचा जी कहे जाने लगे। यह चाचा हित वृंदावनदास कृष्णगढ़ के राज्याश्रित थे, पर वहाँ कलह हो

जाने पर यह वृंदावन चले आए और अंत तक यहीं रहे। इन्होंने प्रायः एक लाख पद बनाए हैं, जिसका बहुत सा अंश अब प्राप्त नहीं है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था तथा बहुत लिखने पर भी अत्यंत साधारण पद नहीं के समान हैं।

महोबा-निवासी गोपालमणि के पुत्र गुमान तीन भाई थे। इन्होंने सं० १८०० में नैषध काव्य का पद्यानुवाद पूर्ण किया था।

इसके सिवा कृष्णचंद्रिका तथा छंदाटवी और कुछ
गुमान अन्य ग्रंथ भी इनके रचे सुने जाते हैं। नैषध के अनुवाद में इन्होंने अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। यह भाषा, काव्यकला तथा साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे, जिससे इस अनुवाद के अधिकांश में वे सफल-प्रयत्न हुए हैं। पर नैषध बहुत ही उच्चकोटि का काव्य है, इसलिए कहीं कहीं अनुवाद शिथिल तथा अस्पष्ट रह गया है। तब भी यह अनुवाद अच्छा हुआ है।

यह माथुर चौबे तथा भरतपुर-नरेश सूरजमल के आश्रित

थे । इन्हीं सूरजमल के दूसरे नाम सुजानसिंह पर सुजान-चरित नामक ग्रंथ बनाया, जो अपूर्ण रह गया । इसमें
 सूदन सूरजमल ने जो अनेक लड़ाइयाँ लड़ी, उन्हीं का विशद वर्णन किया गया है । आँखों देखे वर्णन होने के कारण इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है । काव्य की दृष्टि से भी यह कम महत्व का नहीं है । युद्ध-वर्णन अच्छा हुआ है । सेना की तैयारी, उसका संचालन, युद्धनीति की चोटें आदि सभी का ओजपूर्ण भाषा में अच्छा वर्णन किया गया है । भाषा में मेल खूब है तथा शब्दों का तोड़ मरोड़ भी है । पादपूर्यर्थ भी शब्द खूब भरे गए हैं । छंद अनेक प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं ।

यह वृंदावन-निवासी वैष्णव थे । इन्होंने दोहे चौपाइयों में श्रीकृष्णलीला का मथुरागमन तक का वर्णन करते हुए ब्रजविलास नामक विशद प्रबंध काव्य लिखा है, ब्रजवासीदास जिसकी भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है । भाषा सरल, शुद्ध तथा सुव्यवस्थित है । काव्य-कला का विशेष चमत्कार इसमें नहीं है । इन्होंने प्रबोधचंद्रोदय नाटक का अनुवाद भी अनेक छंदों में किया है ।

गोकुलनाथ रघुनाथदास बंदीजन के पुत्र थे और गोपीनाथ गोकुलनाथ के पुत्र थे । मणिदेव ने अपने को गोपीनाथ का शिष्य लिखा है । यह भरतपुर से काशी आ बसे थे । इन तीनों सुकवियों ने मिलकर समग्र महाभारत का हिंदी पद्यानुवाद अनेक

छंदों में किया है। यह पूरा ग्रंथ चार भागों में छप चुका है।

तीसरा भाग मेरे पास है, जिसके ३६१ पृष्ठों में गोकुलनाथ, गोपीनाथ, केवल ४४ पृष्ठ गोपीनाथ कृत हैं, बाकी कुल

मणिदेव मणिदेव रचित हैं। इसका शांति पर्व सं० १८८१

की विजयादशमी को समाप्त हुआ था, जैसा अंत के दोहे में लिखा है। यह ग्रंथ महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रय में निर्मित हुआ था। इन सभी कवियों का भाषा पर अच्छा अधिकार था और सभी काव्यकला के अच्छे मर्मज्ञ थे। इस विशद ग्रंथ में छंद-शैथिल्य नहीं आने पाया है और काव्य गुण सर्वत्र पूरे परिमाण में पाए जाते हैं। इनमें केवल गोकुलनाथ के अन्य ग्रंथ चेतचंद्रिका, गीता-विजय, सीताराम-विजय, कवि-मुखमंडन, राधाजू को नखशिख, नामरत्नमाला आदि मिले हैं। चेतचंद्रिका अलंकार ग्रंथ है और प्रकाशित हो चुका है।

राजापुर-निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण बुद्धिसेन ही पन्ना दर-बार में बोधा नाम से प्रसिद्ध हुए। यह संस्कृत तथा फारसी के

ज्ञाता थे। सुभान नाम की वेश्या पर मजनुँ हो

बोधा कर इन्होंने विरह वारीश लिखा था। इश्कनामा

इनका दूसरा ग्रंथ है। दोनों ही में प्रेमोन्माद

भरा है। भाषा भाव के अनुकूल है।

यह माथुर ब्राह्मण थे और इन्होंने सं० १८६६ वि० में रामा-

श्वमेध नामक विशद प्रबंध काव्य लिखा है।

मधुसूदन

इसमें अश्वमेध यज्ञ की रक्षा में लवकुश के साथ

के युद्धों का अत्यंत रोचक वर्णन है। यह दोहे चौपाइयों में अवधी भाषा में लिखा गया है।

ठाकुर नाम के तीन कवि हो गए हैं, जिनमें दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और तीसरे बुंदेलखंड के लाला ठाकुरदास कायस्थ थे।

असनीवाले प्राचीन ठाकुर की कुछ स्फुट कविता

ठाकुर यत्र तत्र मिलती है और उनके विषय में कुछ विशेष पता नहीं है। दूसरे ठाकुर काशी के देव-क्रीनंदन के आश्रित थे। इन्होंने बिहारी-सतसई पर एक टीका लिखी है। लाला ठाकुरदास जैतपुर-नरेश तथा हिम्मत बहादुर के आश्रित रहे। यह सं० १८८० के लगभग मरे। इन सभी ठाकुरों की कविता मिल गई है और जो संग्रह प्राप्त हैं उनमें इस प्रकार का मेल बराबर है। ये सभी सुकवि हो गए हैं। प्रेममार्ग के सभी पथिक थे और सभी ने अत्यंत भावमयी सुंदर प्रसादयुक्त उक्तियाँ कही हैं। लाला-साहब ही सब बातों का विचार करने पर कुछ ऊँचे उठ जाते हैं।

प्रसिद्ध वीर-काव्य हम्मीरहठ के रचयिता चंद्रशेखर जी फतह-पुर के बाजपेयी थे। इस ग्रंथ को इन्होंने पटियाला-नरेश नरेंद्रसिंह

के आश्रय में लिखा था। यह कुछ दिन जोधपुर

चंद्रशेखर दरबार में भी रहे थे। हम्मीरहठ के सिवा विवेक-

विनोद, रसिक-विनोद, हरि-भक्ति-विलास, नख-

शिख, वृंदावन-शतक, प्रहपंचाशिका, ताजक ज्योतिष और माधवी-वसंत नाम की रचनाएँ इनकी मिली हैं। इनमें केवल हम्मीरहठ प्रकाशित हुआ है। वीररस-पूर्ण होते हुए भी इसमें शब्दों का

पिञ्चीकरण नहीं हुआ है और वीरोल्लासपूर्ण उक्तियों ही के सुंदर प्रयोग अधिक हुए हैं। भाषा भी सुव्यवस्थित है।

यह काशी-निवासी गिरि शाखा के गोसाईं थे। इनका जन्म सं० १८५६ वि० में हुआ था और यह बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास के मित्रों में से थे। आपने अनुराग-
 दान-अनुराग-गिरि बाग, अन्योक्ति कल्पद्रुम, वैराग्य-दिनेश, दृष्टांत-
 तरंगिणी तथा विश्वनाथ-नवरत्न ग्रंथों की रचना की है। इनकी अन्योक्तियाँ हिंदी-साहित्य में अद्वितीय हैं। भाषा पर इनका अधिकार बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था, जिससे यह बहुत ही सरस तथा हृदयग्राही पद लिख सके हैं। शब्द चमत्कार भी खूब दिखलाया है। मर्मस्पर्शी भावपूर्ण उक्तियों के कथन में यह कलापन्न की ओर नहीं झुके, जिससे वे अत्यंत मनोहर हो गईं। जब श्लेष आदि लिखने बैठते तो कुल शब्द-वैचित्र्य ला जुटाते थे। नीति तथा विरक्ति के भी अच्छे-अच्छे पद कहे हैं। अनुरागबाग में श्रीकृष्ण लीला का वर्णन कवित्तों में अतीव सुंदर किया है।

यह पन्ना-निवासी थे। इनकी मधुरप्रिया तथा नखशिख दो रचनाओं का शिवसिंह सरोज में उल्लेख है। पजनेस-प्रकाश

प्रकाशित हो चुका है, जिसमें १२० कवित्त-
 पजनेस सवैया हैं। यह शृंगारिक सुकवि हो गए हैं।

इनकी भाषा सानुप्रास तथा सरस होती थी। शब्द चमत्कार की ओर दृष्टि अधिक रखते थे, फारसी का मेल भी कविता में मिलता है।

यह भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे। इनका जन्म सं० १८६० वि० में तथा मृत्यु सं० १९१७ वि० में हुई थी पर इसी छोटी अवस्था में इन्होंने 'रचे ग्रंथ चालीस'।

गिरिधरदास इनमें से कई विशद ग्रंथ हैं और कुछ छोटे हैं।

जरासंधवध महाकाव्य अपूर्ण है, जिसके साढ़े दस सर्ग प्राप्त हैं। इस साहित्येतिहास के लेखक ने ग्यारहवाँ सर्ग पूरा कर इसे प्रकाशित कराया है। अनुप्रास और यमक इसमें प्रचुर मात्रा में हैं। कहीं-कहीं दुरूह शब्दों की अधिकता भी है पर गर्गसंहिता आदि कथा-प्रधान रचना में सरलता पर अधिक दृष्टि रखी गई है। संस्कृत के भी यह अच्छे ज्ञाता थे और संस्कृत में कई स्तोत्र आदि भी बनाए हैं। पद्य रचना का इनका अभ्यास दैवी ज्ञात होता है।

अयोध्या-नरेश मानसिंह का उपनाम द्विजदेव था। इनकी दो रचनाएँ शृंगार बत्तीसी तथा शृंगार-लतिका कही जाती हैं।

इनकी स्फुट-कविता ही प्राप्त है जो सरस तथा द्विजदेव भावपूर्ण है। स्वच्छ तथा सुव्यवस्थित भाषा ही यह प्रयोग में लाते थे। यह एक प्रकार ब्रज भाषा की इस शृंगारिक परंपरा के अंतिम सुकवि हुए हैं। शृंगार-लतिका पर इनके उत्तराधिकारी महाराज प्रतापसिंह ने बृहत् सौरभीय टीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है।

आठवाँ परिच्छेद

आधुनिक काल (बीसवीं शताब्दी)

प्राचीन काव्यभाषा की परंपरा रीतिकाल के साथ समाप्त न होकर एक प्रकार अब तक चली आ रही है और स्यात् बराबर चलती भी रहे । ब्रज-भाषा तथा अवधी प्रांतीय जीवित बोलियाँ हैं और इनके बोलनेवाले स्वभावतः इनमें रचना करना अपना धर्म समझेंगे । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि समग्र हिंदी भाषी जनता के लिए जो कविता अब होगी, वह राष्ट्रभाषा हिंदी ही में होगी । साथ ही यह भी कहना उचित है कि प्राचीन काव्य-भाषा की कविता को अपना प्राचीन संकीर्ण घेरा छोड़कर बाहर आना होगा और प्रगतिशील संसार के साथ चलना पड़ेगा । ऐसी ही अवस्था में उसे साहित्येतिहास में स्थान भी मिल सकेगा ।

इस काल के सुकवियों का उल्लेख करने के पहले यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि उनमें दो कोटि के कवि हुए हैं । एक तो वे हैं जिन्होंने केवल पुरानी परिपाटी पर ही कविता की है और दूसरे वे हैं जिन्होंने पुरानी प्रथा को निबाहते हुए भी साहित्य-संसार की नवीन प्रगति के प्रवर्तन तथा उन्नयन में योग दिया है । दूसरी कोटि के सुकवियों का आरंभ भारतेंदु जी से होता है, जिन्होंने हिंदी गद्य तथा पद्य दोनों की भाषाओं को परि-मार्जित करते हुए सुषुप्तावस्था में प्राचीन रीति ढोते हुए साहित्य

को जगाकर आगे बढ़ते हुए समाज के साथ ला मिलाया था ।
अस्तु, कुछ सुकवियों का विवरण यहाँ दिया जाता है ।

बाबू देवकीनंदन के आश्रित असनी के ठाकुर के पुत्र सेवक भी उसी वंश के आश्रित थे । इन्होंने वाग्बिलास नामक नायिका-

सेवक भेद का एक बड़ा ग्रंथ बनाया है और बरवै छंद में नखशिख नामक एक छोटा ग्रंथ भी लिखा है । इन-

का जन्म सं० १८७२ में हुआ था और यह ६७ वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारे । इनके सवैया मनोहर तथा सर्वप्रिय होते थे । पद्य में इनका रचा हुआ एक मुद्राराक्षस भी सुना जाता है ।

रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह का जन्म सं० १८८० और मृत्यु सं० १९३६ वि० है । इनका रामस्वयंवर ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है-

जिसमें वनगमन के पहिले की लीला का विशद रघुराजसिंह रूप से अनेक छंदों में वर्णन है । वारात आदि के राजसी ठाट का विवरण अच्छा है । आनंदा-म्बुनिधि, रुक्मिणी-परिणय आदि अन्य कई ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं । इन सब में भक्ति तथा शृंगार मुख्य है ।

यह ललितपुर-निवासी हरिजन के पुत्र तथा काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रित थे । यह साहित्य

के अच्छे ज्ञाता-तथा सुकवि थे । इन्होंने कवि-सरदार प्रिया की काशिराज-प्रकाशिका नाम से, रसिक-

प्रिया की सुख-विलासिका तथा बिहारी-सतसई की शृंगारसंग्रह नाम से गद्यपद्यमय टीका लिखी है । इनके

मिवा साहित्य-सुधाकर, रामलीलाप्रकाश, रामरण-रत्नाकर, राम-रस-वज्रयंत्र, मानसरहस्य तथा व्यंग्यविलास लिखा है। काशिराज के 'सेवक जिनके जानिए औघड़सिंह खवास। तिनके हित सरदार किय रितुरुचि परब विलास।' अर्थात् इस पुस्तक का नाम ऋतुविलास है, पट्ऋतुवर्णन नहीं है। भारतेंदु जी के पिता गिरिधरदास जी कृत एक स्तुति पर स्तुतिप्रकाशिका टीका भी लिखी है। मूर के दृष्टि-कूट पर भी इन्होंने टीका की है। इनके काव्य-ग्रंथ मनोहर तथा टीकाएँ पांडित्यपूर्ण होती थीं।

यह लालू कवि के पौत्र तथा गुलाब कवि के पुत्र थे और पूर्वोक्त महाराज के आश्रित थे। इन्होंने वाल्मीकीय-रामायण-श्लोकार्थ-प्रकाश महाराज उदितनारायणसिंह के लिए गणेश लिखा था, जिनकी मृत्यु सं० १८६२ वि० में हुई थी। हनुमत-पच्चीसी सं० १८३२ वि० में लिखी गई। प्रद्युम्न-विजय नाटक संयुक्त साहित्यसागर नामक ग्रंथ इन्होंने सं० १८२१ वि० में लिखा था। इस कारण इनका रचनाकाल सं० १८८५ से १८३५ वि० तक मानना चाहिए। यह मुकवि तथा साहित्यमर्मज्ञ थे।

ये दोनों भाई लखनऊ के धनसंपन्न वैश्य शाह-घराने के थे और इनके नाम कुंदनलाल तथा कुंदनलाल थे। इन लोगों ने विरक्त होकर बृंदावन में रहना शुरू किया और वहीं अपने पिता के नाम पर विहारीलालजी का बड़ा मंदिर संगमरमर का बनवाया, जो शाह जी के

ललितकिशोरी

ललितमाधुरी

मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों भाइयों ने भक्ति तथा प्रेम संबंधी कविता ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली दोनों में की है। इनके पदों के संग्रह दो बड़े बड़े जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं।

यह आगरा-निवासी क्षत्रिय थे और राजभक्ति के कारण इन्हें राजा की पदवी मिली थी। इन्होंने शकुंतला, मेघदूत तथा रघुवंश तीनों के अनुवाद किए। इनमें क्या राजा मदनमोहन गद्य, क्या पद्य दोनों अत्यंत सरस तथा मनोहर हैं। मेघदूत के बाद को कई अनुवाद हुए पर कोई भी इसके लालित्य तथा सरसता को नहीं पहुँच सका। शकुंतला के पद्यों की भी सरलता पठनीय है। इन्होंने अंग्रेजी तथा फारसी से सरकारी आज्ञानुसार कई ग्रंथों का अनुवाद किया है।

यह बस्ती के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनका जन्म सं० १८६८ में हुआ था। अयोध्या, बस्ती, दरभंगा, गिद्धौर, पुरनिया आदि स्थानों के राजाओं के यहाँ जाकर इन्होंने उनके लछिराम नाम पर कई ग्रंथ बनाए। इनके नाम मानसिंह-श्रक, प्रतापरत्नाकर, लक्ष्मीश्वररत्नाकर आदि हैं। समस्यापूर्ति अच्छी करते थे और जल्दी करते थे।

भावनगर के अंतर्गत सिहोरा में सं० १६०५ में इनका जन्म हुआ था और सं० १६६४ में इनकी मृत्यु हुई। ब्रज-भाषा कवियों की रचनाओं का एक अच्छा संग्रह इन्होंने किया था। गोविंदगिष्णाभाई ब्रज-भाषा की इनकी कविता भी बहुत ही सुंदर तथा सरस होती थी। इन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी हैं।

यह मथुरा-निवासी थे और इनकी मृत्यु अभी हाल ही में हुई है। इनका जन्म सं० १६१५ और मृत्यु सं० नवनीत चतुर्वेदी १६८६ वि० है। आप ब्रज-भाषा की कविता के मर्मज्ञ तथा सुकवि थे।

प्राचीन परंपरा के वर्तमान सुकवियों में बाबू जगन्नाथदासजी रत्नाकर का स्थान बहुत ऊँचा था। आपका जन्म काशी ही में भाद्रपद शुक्ल ६ सं० १६२३ वि० को हुआ था रत्नाकर और आपकी मृत्यु सं० १६८६ के आषाढ़ कृ०

३ मंगलवार को हुई। आप कुछ दिन तक आवा-गढ़ राज्य में तथा बाद को अंत तक अयोध्या की महारानी की सेवा में रहे थे। इन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्यरत्नाकर, घनाक्षरी, नियमरत्नाकर और हरिश्चंद्र की रचना बहुत पहिले की थी। हम्मीरहठ, हिततरंगिणी, कंठाभरण आदि कई ग्रंथों का संपादन भी किया था। साहित्य-सुधानिधि नामक एक पत्र भी कई सज्जनों के सहयोग से कई वर्ष तक निकाला था। इसके अनंतर वे कुछ वर्ष तक मातृभाषा की सेवा से विरक्त रहे थे। रोला छंद में इधर ही इन्होंने गंगावतरण लिखा और बिहारी सतसई का एक अत्यंत प्रामाणिक संस्करण बिहारी-रत्नाकर नाम से प्रकाशित कराया है। इनके सिवा उद्धवशतक भी प्रकाशित हो गया है। गंगाष्टक, गजेंद्रमोक्ष, लक्ष्मीबाई आदि पर इनके बहुत से स्फुट छंद हैं। इनकी समग्र कविता रत्नाकर-संग्रह के नाम से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। सूर-

सागर के संपादन में वे प्रायः कई साल से बड़े लगन के साथ लगे हुए थे और इन्होंने प्रायः तीन चौथाई कार्य समाप्त भी कर दिया था, पर काल की गति से वे उसे पूरा न कर सके। रत्नाकरजी साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे और इनकी कविता हिंदी-साहित्य के अच्छे कवियों के टक्कर की होती थी।।

अब दूसरी कोटि के कवियों का अतीव संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है, जिनका विशद वर्णन अन्यत्र दिया जायगा। इस कोटि के कवियों में पहिला नाम भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र का आता है। इन्होंने प्राचीन परंपरा की कविता करते हुए भी जराजीर्ण सड़े-गले शब्दों का निराकरण किया और बोल-चाल में काम आनेवाले शब्दों ही का प्रयोग किया। शब्दों के तोड़ने-मरोड़ने तथा भरती के शब्द व्यवहृत करने के यह बराबर विरुद्ध रहे और अपनी कविता में ऐसे दोषों को नहीं आने दिया। शृंगार-रस के इनके सवैया तथा कवित्त ऐसे सरस, हृदयग्राही और आकर्षक होते थे कि वे इनके सामने ही सर्वजन-प्रिय हो उठे थे। प्रेम-माधुरी आदि में तथा नाटकों में इनके भक्ति-प्रेम से लबालब सवैया आदि मिलेंगे। इनके संस्थापित कवि-समाज में समस्यापूर्ति में तत्कालीन सभी सुकविगण एकत्र होते थे।

पंडित प्रतापनारायणजी मिश्र तथा बद्रीनारायणजी प्रेमघन भी बड़ी ही सुंदर समस्या-पूर्तियाँ करते थे। ठाकुर जगमोहनसिंह के रसीले कवित्त-सवैया, श्यामालता तथा श्यामा-सरोजिनी में मिलते हैं। मेघदूत का भी इन्हीं छंदों में इन्होंने

अच्छा अनुवाद किया है। साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त जी व्यास ने विहारी-सतसई पर कुंटलियाँ रचकर विहारी-विहार नामक बड़ा ग्रंथ तैयार किया। काशी-कवि-समाज में इनकी समस्या-पूर्तियाँ पढ़ी जाती थीं, जो उसी समाज-द्वारा प्रकाशित संग्रहों में निकल चुकी हैं। इन्हीं संग्रहों में बाबू रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर' के कवित्त, सवैये भी छपे हैं। लाला सीतारामजी बी० ए० 'भूप' ने मेघदूत, रघुवंश, कुमारसंभव, ऋतुसंहार आदि काव्यों तथा नागानंद, उत्तररामचरित, मालविकाग्निमित्र, मृच्छ-कटिक आदि नाटकों का अनुवाद किया है। अंग्रेजी के भी कई नाटकों का अनुवाद प्रकाशित कराया है। छ भाग में प्राचीन कवियों के काव्यों से इनका संकलन किया हुआ एक विशद संग्रह कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। आपकी २ जनवरी सन १९३७ ई० को मृत्यु हो गई।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा पंडित श्रीधर पाठक का नाम विशेषतः गढ़ीबोली हिंदी के साथ लिया जाता है पर इन लोगों की ब्रज-भाषा की कविता भी अति मधुर और सरस होती थी। 'हरिऔध' उपनाम ब्रज-भाषा ही की कविता के लिए रखा गया था और यह पहिले इसी भाषा में समस्यापूर्तियाँ करते थे। आपका 'रसकलश' नामक रसविषयक ग्रंथ इसी भाषा में प्रकाशित हुआ है। पाठक जी का ऋतुसंहार का पद्यानुवाद ब्रज-भाषा में अत्यंत हृदयस्पर्शी पदों में हुआ है। इनकी कुल कविता पर दृष्टि डालने से यही ज्ञात होता है कि ब्रज-भाषा ही का अंश

अधिक स्थायी साहित्य हुआ है। कानपुर के राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' ब्रज-भाषा के सुकवि थे। इन्होंने मेघदूत का पद्यानुवाद धाराधर-धावन नाम से किया है। यह सं० १६७७ में ४० वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारे।

नवीन परंपरा

इस परिच्छेद की नवीन परंपरा से ब्रज-भाषा की नई प्रगति की कविता से तात्पर्य है, खड़ी बोली की प्रगति से नहीं है, उस पर अलग लिखा जायगा। यहाँ परंपरा के साथ नवीन शब्द इस कारण लगाया गया है कि अब तक वीरगाथा, प्रेमाख्यान, भक्ति तथा रीति पर ही कविताएँ लिखी जाती थीं और अंतिम रीति-काल में अलंकारादि काव्यांग का विवरण देने के बहाने शृंगारिक कविताएँ आश्रय-दानाश्रयों को तुष्ट करने के लिए लिखने की खूब प्रथा चल निकली थी और वह भी कुछ ही दिनों के लिए नहीं प्रत्युत् दो शताब्दी से ऊपर तक चलती रही। इस कारण जनता इस प्रथा से उब गई थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने उक्त प्रथा के विरुद्ध देशकाल की माँग के अनुसार कविता को भी नए-नए अनेक विषयों की ओर मुकाया। देशप्रेम, मातृभाषाभक्ति, समाज-सुधार आदि लोकहितकर विषयों को लेकर कविता करने, नाटक-निबंधादि लिखने का मार्ग इन्होंने दिग्ललाया। उपदेशमय मनोरंजक विनोदपूर्ण छोटी कविता भी लिखी जाने लगी। हास्य-रस को नए फैशन के आलंबन दिए गए और वीररस के लिए आलंबनों का अन्वेषण पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों में किया जाने लगा। मुक्तक या प्रबंध काव्य के सिवा जिस प्रकार पहिले दानलीला, मृगया आदि विषयों पर दस-दस बीस-बीस पदों के

छोटे-छोटे काव्य लिखने की प्रथा थी, वह अपनाई गई। ये पद्यात्मक निबंध प्रायः ऐतिहासिक घटनाओं, वात्सल्य प्रेम, ईश-भक्ति आदि अनेक विषयों को लेकर लिखे जाने लगे। ये दो प्रकार के थे—पाठ्य तथा गेय।

इस नवीन परंपरा के उत्थान का एक कारण भारत में अंग्रेजों का आगमन कहा जाता है, विदेशियों का आगमन नहीं; क्योंकि विदेशीय तो इस भारत पर प्रायः अज्ञात काल से टपकते चले आ रहे हैं। अंग्रेजों के आगमन के ठीक पहिले मुसलमानों का भारत में आगमन हुआ था पर आज सात शताब्दी व्यतीत हो जाने पर भी वे मातृभूमि तथा मातृभाषा-प्रेम को धार्मिक उत्साह में भूले हुए हैं। उन्हें भारत के प्राकृतिक दृश्य से अरब के बलुए दृश्य तथा देशी टोपी से टर्किश कैप ही अधिक पसंद है। उनके काव्य में भी वही इश्क, हिअ, विसाले-सनम के सिवा अधिक कुछ न था। उनके यहाँ भी अंग्रेजों के आगमन के बाद कुछ नवीन परंपरा उत्थित हुई, पर वह भी धार्मिक रंग में रँगी हुई। अतः हिंदी में जो कुछ नवीनता आरंभ हुई वह अंग्रेजों के आगमन तथा उनके संपर्क के बाद। ऐसा क्यों हुआ? एक बात और ध्यान देने योग्य है कि बंगला साहित्य में हिंदी से पहिले ही नवीनता आने का एक प्रधान कारण यही है कि बंगालियों का अंग्रेजों से संपर्क इस प्रांत में उनके आने से पहिले हो चुका था।

कुछ सज्जन अंग्रेजों के आगमन को इस उत्थान का कारण न मानकर उनकी कूट नीति को इसका कारण मानते हैं। भारत

कभी कृतघ्न नहीं हुआ है । भारत के इतिहास, पुरातत्व, मुद्रा-शास्त्र, लिपि, प्राचीन संस्कृत साहित्य, वर्तमान भाषाओं के नवीन उत्थान आदि सभी के इतिहास पर दृष्टि दौड़ाइए और सब में आपको भारत सरकार तथा अंग्रेजों—यूरोपियन साहित्य-प्रेमियों—का सहयोग ही नहीं वरन् उनके द्वारा मार्ग-प्रदर्शन किया जाना दिखलाई पड़ेगा । विजित तथा विजेता का संबंध किसीको भी ईप्सित नहीं है पर यह संबंध स्थापित हो जाने पर असभ्य अशिक्षित विजेता भी जब अपने से सभ्यतर विजित को अपने से हर प्रकार अनुन्नत बतलाता है तब यदि वास्तव में सभ्य विजेता पूर्व गौरव को भूले हुए अनुन्नतशील विजित को उनकी त्रुटि दिखलाते हुए अपने को बढ़कर दिखलाता है, तो इसमें उसका दोष मानना अपनी पोल को छिपाना मात्र है । जिस नवीन धारा का उत्थान-काल आज से कम से कम अस्सी वर्ष पहिले आरंभ होता है, वह काल क्या सर्वतोमुखी हलचल का था, जब पराधीन देश ने अपनी संपूर्ण शक्ति दाम्मता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की चेष्टा की थी ? धन्य होगा वह देश जो इतने दिनों के प्रयाग में बेड़ी तोड़ना दूर, उसे ढीला तक न कर सका । ऐसे सर्वव्यापी आंदोलन के, यों कहिए कि, आरंभ करने का बूढ़ा भारत कुछ कुछ विचार कर रहा है । अस्तु, इस नवीन धारा का उदय भारतेंदु तथा भारतेंदु-मंडल के साथ होता है ।

हृदय में देश-प्रेम के अंकुरित होते ही तीन प्रकार के दृश्य—भूत, वर्तमान और भविष्य—आँखों के सामने आते हैं । पूर्व गौरव

पहिले आँखों के सामने चित्रित हो उठता है। इसके बाद पट-परिवर्तन होता है और वर्तमान दृश्य सामने आ जाता है। अब हृदय सोचता है कि हम क्या थे और अब क्या हैं। यदि यह परिस्थिति-परिवर्तन उन्नतिशील रहा तो वह आशापूर्ण होकर और देशोन्नति करने की पुकार करता है, यदि वह स्थिर रहा तो 'संपदां सुस्थिरं मन्ये न वर्धयति तत्र ताम्' समझकर प्रगतिशील होने को अपना स्वर ऊँचा करता है और यदि इस परिवर्तन में देश को गिरा हुआ पाता है, तो अपने टूटते हुए हृदय से अपने देशभाइयों को जागृत करने के लिए उनमें पूर्व गौरव का वर्णन कर गर्व तथा उनकी वर्तमान दशा दिखाकर आत्मक्षोभ पैदा कर देशभक्ति की उनको दीक्षा देता है। कभी-कभी देशभक्त कवि जब अपने भाइयों को अधिक गिरी दशा में पाता है, उनको जागृत करने में असफल होता ज्ञात होता है, तब सर्व-आशामयी मूर्ति का बड़े विषाद के साथ आह्वान करता है। भारतेंदुजी ने भारतेंदुसिंह में अंतिम ही दृश्य देखा था। अतः इस प्रकार की उनकी कविता में ये तीनों भाव भरे हैं। नीलदेवी के इस नैराश्यपूर्ण कथन पर कि 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा' कुछ सज्जनों ने कटाक्ष किए हैं पर भारत-दुर्दशा में 'हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना' आदि जो उन्नति के उपाय भारतेंदुजी ने बतलाए थे, उनको करने के लिए बाध्य करने को सत्तर वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी आज तक पिकेटिंग आदि की आवश्यकता पड़ती है। हम लोग अपनी ही पीठ ठोकना चाहते

हैं। कोई महात्मा मिल गए, बस सब, उन्हींके चमत्कार को 'टुकुर टुकुर दीदम' में लग गए। एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता और एक तिनका प्रवाह को उलट नहीं सकता। घर-घर ऐसे ही लोग जब उत्पन्न होने लगेंगे और देश-प्रेम घर-घर पल्लवित हो उठेगा, तभी नैराश्य आशा में परिणत हो जायगा।

भारतेंदुजी ने कवितादेवी के उस अनुपम, नित्य, अविनश्वर वीणा पर, जिससे वीरोल्लासमयी, भक्ति-भाव-पूर्ण तथा शृंगारिक स्वर-लहरियाँ तरंगित हो चुकी थीं, नवीन देश-प्रेम-पूर्ण वह स्वर निकाला, जिसे उस काल के तथा बाद के प्रायः सभी सुकवियों ने अपनाया। पं० प्रतापनारायणजी मिश्र ने बुढ़ापा, तृप्यन्ताम्, हरगंगा, गोरक्षा आदि अनेक विषयों पर छोटे-छोटे काव्य लिखे। पं० बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघनजी ने भी राजभक्ति-सूचक, नागरी के प्रचार, धार्मिक उत्सवों आदि पर कविताएँ की हैं। इनके नाटकों में परंपरा की कान्यभापा में देश-दशा, देश-भक्ति आदि पर अच्छी कविताएँ हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह यद्यपि सब प्रकार से भारतेंदुजी ही का स्वभाव रखते थे पर वे इस नवीन उत्थान में उनके साथ नहीं चले। वे वन्य प्रकृति-निरीक्षण में लगे रहे। पं० अंबिकादत्तजी व्यास ने नये विषयों पर कुछ स्फुट रचनाएँ की हैं।

पं० श्रीधर जी पाठक ने भी इस नवीन धारा में सहयोग दिया है और बहुत सी मधुर-लय-पूर्ण कविता की है। इनकी अधिक रचना खड़ीबोली की है, जिससे इनका विवरण उसी के

साथ दिया जायगा। पं० महावीरप्रसादजी ने पहिले-पहिल ब्रज-भाषा ही में कविता किया था पर बाद को इसे एक दम त्याज्य समझकर खड़ी बोली ही को अपनाया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने पुरानी-धारा की कविता के साथ-साथ नए-नए विषयों पर भी खूब कविता की और बाद को खड़ी-बोली की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। पं० नाथूरामजी 'शंकर' की ओज-पूर्ण कविता पहिले ब्रज-भाषा ही में होती थी, बाद को इन्होंने खड़ी-बोली अपनाया था। इनमें उड़ड़ता की मात्रा अधिक थी। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और पं० रूपनारायण पांडेय भी पहिले ब्रज-भाषा ही में कविता करते थे।

पं० सत्यनारायण जी कविरत्न ब्रज-वासी तथा ब्रज-भाषा के सुकवि थे। श्रीकृष्ण की भक्ति इनमें पूर्ण-रूप से थी। देश की नई स्थिति के अनुकूल भी कुछ उद्गार इनकी कविता में मिलते हैं। वियोगी हरिजी भी ऐसे ही रसिक कवि हैं। आपकी बीर-सतसई पर आपको मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला है। बाबू जयशंकर प्रसादजी ने भी, सुनते हैं कि, कुछ कविता ब्रज-भाषा में की थी।

नवाँ परिच्छेद

खड़ी बोली हिंदी कविता

खड़ी बोली भाषा के विकास के विषय में पहिले परिच्छेद में कुछ लिखा जा चुका है, जिससे अधिक लिखने का इस छोटी-सी पुस्तिका में स्थानाभाव है। अब इस परिच्छेद में विषय प्रवेश इसके साहित्य पर विचार किया जायगा। इसकी प्राचीनता के विषय में साधारणतः यह कहा जा सकता है कि यह ब्रज-भाषा के साहित्य से कम प्राचीन नहीं है पर इसका प्रसार साथ साथ न होकर बहुत बाद को हुआ। संक्षेप में ऐसा होने का यही मुख्य कारण कहा जा सकता है कि हिंदी भाषी हिंदू साहित्य-सेवियों में परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा ही का प्रयोग प्रधानतः जारी रहा। वे किसी भी प्रांत में बसने पर भी वहाँ की बोलचाल की भाषा की परवाह न कर उसी परंपरागत भाषा में कविता करते थे। कभी-कभी इन बोलचाल की भाषाओं का प्रयोग ऐसे साहित्य-सेवियों द्वारा चित्रालंकार के उदाहरण में आ जाता था। शार्ङ्गधर-पद्धति नामक एक संग्रह-ग्रंथ है, जो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में संकलित हुआ था। इसमें एक श्लोक श्रीकंठ रचित है, जिसका एक अंश 'रे कंत मेरे कहे' शुद्ध हिंदी है। एक दूसरे श्लोक में 'दानी अनोखे भए' भी उसी प्रकार की हिंदी है। ये दोनों श्लोक इस

संकलन के बहुत पहिले के हो सकते हैं। वे कविगण जो इस परंपरा के घेरे के बाहर थे, उन लोगों ने बोल चाल की हिंदी अर्थात् खड़ी बोली में कविता की है। पर इस कारण कि वे संख्या में बहुत कम थे, इसलिए इसका साहित्य भी बहुत थोड़ा बन सका। इनमें मुसल्मान कविगण मुख्य हैं, पर ध्यान रहे कि इनमें भी दोनों प्रकार के कवि हैं। एक वे थे जो प्राचीन साहित्य के ज्ञाता थे और उसी घेरे के भीतर आ गए थे और दूसरे वे थे जो ब्रज-भाषा-साहित्य के न जानने से बाहर ही रह गए थे। भारतीय अन्य भाषा-भाषी कवियों ने भी जब हिंदी में कुछ रचना करना चाहा तब उन लोगों ने खड़ी बोली हिंदी ही को अपनाया। मतलब इतना ही है कि रूढ़िगत काव्यभाषा की परंपरा में जो पड़ गया वह उसी में रह गया पर जो इस प्रभाव से मुक्त रहे उन्होंने जनसाधारण की बोली ही में अपनी रचनाएँ लिखीं।

हिंदी के साहित्य का इतिहास भी ब्रज-भाषा हिंदी के साहित्य-इतिहास के समान तीनकाल में विभक्त किया जा सकता है—

आदि, मध्य और वर्तमान। इनमें प्रत्येक काल समय-विभाग की कुछ न कुछ निजी विशेषता भी है, जैसे आदि काल में योग का, मध्य में संतों का तथा वर्तमान में रहस्यवाद का। पर ये विशेषताएँ इतनी स्पष्ट नहीं हैं कि उनका नाम साथ साथ दिया जा सके। अस्तु साधारण विभाग ही काम में लाया जायगा।

आदि काल-१-१४०० वि०

किसी कवि के विषय में लिखने के पहिले यहाँ उस प्राचीन भाषा के बारे में कुछ लिखना आवश्यक ज्ञात होता है, जो उत्तरा-प्रथ की संस्कृत से उद्भूत वर्तमान भाषाओं तथा प्राकृत-अपभ्रंश के बीच में कुछ समय के लिए रही होगी। उक्त भाषा का स्वरूप वह रहा होगा, जिसे देखकर महाराष्ट्र-निवासी उसको महाराष्ट्री का, बंगाली बंगला का, राजस्थान-निवासी राजस्थानी का तथा हिंदी-भाषी हिंदी का प्राचीनतम रूप मानेगा। तात्पर्य यह कि उक्त भाषा उस काल की भाषा थी जब प्राकृत-अपभ्रंश से भिन्न प्रांतिक बोलियाँ अपना अपना नया रूप धारण कर रही थीं और इनमें ऐसी स्पष्ट विभिन्नता नहीं आ पाई थी, जिससे वे अलग अलग एक एक भाषा का प्राचीन रूप मानी जा सकें। यह विशेषता इस काल के प्राचीनतम कवियों की भाषा में दिखाई पड़ेगी।

इस काल के प्राचीनतम कवि गोरखनाथ जी कहे जा सकते हैं। इनका समय संदिग्ध है और जब कुछ विद्वान् इन्हें आठवीं शताब्दी में ले जाते हैं तो कुछ इन्हें पंद्रहवीं शताब्दी में ला पटकते हैं, पर अधिक मत से इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी मान्य है। इनकी शिष्य परंपरा में गहनीनाथ थे, जिनके शिष्य निगृन्तिनाथ हुए। इनके दो अन्य भाइयों का नाम ज्ञानेश्वर तथा सोपान देव था और बहिन का मुक्ताबाई था। ज्ञानेश्वर की दो रचनाएँ अमृतानुभव और गीता की टीका प्रसिद्ध हैं। यह तेरहवीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में हुए थे। इनमें गोरखनाथ, गहनीनाथ, ज्ञानेश्वर तथा मुक्ताबाई की हिंदी कविताओं की भाषा खड़ी बोली ही कही जायगी। गहनीनाथ के गुरुभाई चरपटनाथ ने खड़ी बोली हिंदी में कविता की है। इसी समय चुणकरनाथ, बालानाथ तथा देवलनाथ हुए। जिन लोगों की भी हिंदी खड़ी बोली ही है। नाथ पंथी साधुओं में इसके बाद धूधलीमल तथा उनके शिष्य गरीबनाथ हुए, जो पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए। पृथ्वीनाथ कबीर के बाद हुए और इन तीनों की कविता में खड़ी बोली हिंदी प्रयुक्त हुई है।

महाराष्ट्र में एक महानुभाव पंथ भी प्रायः दसवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था, जिसके संस्थापक चक्रधर हो गए हैं। इनके शिष्य दामोदर ने तथा अन्य शिष्य गान्दे-गान्दे की बहिन उमाम्बा ने हिंदी खड़ी बोली में कविता की है।

शार्ङ्गधर के संग्रह ग्रंथ का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनका एक ग्रंथ हम्मीररासो भी कहा जाता है, जो अप्राप्त है। इसी काल में अमीर खुसरो भी हुए, जिन्होंने शुद्ध खड़ी बोली हिंदी का अपनी कविता में अच्छा प्रयोग किया है। इन्होंने फारसी तथा हिंदी बोलनेवालों की सुविधा के लिए जिस खालिकवारी कोष का प्रणयन किया था, उसकी हिंदी खड़ी बोली ही है। मुल्ला दाऊद कृत 'नूरक और चन्दा' अप्राप्य है। इसकी भाषा अवश्य ही खड़ी बोली रही होगी।

पूर्व-मध्य काल

सं० १४००—१८०० वि०

कबीरदास जी तथा नामदेव का समय पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तगार्द्ध है। इनमें पहिले ने कम पर दूसरे ने खड़ी बोली में अधिक कविता की है। इनके सिवा पलटू साहब, संत कविगण तुलसी साहब, दूलमदास, सदन तथा मलूकदास ने भी कुछ कविता खड़ी बोली में की है। इन संतों ने अधिकतर परंपरा की काव्यभाषा ही का प्रयोग किया है पर उन सब में खड़ी बोली का बराबर पुट मिलता है। कबीर ने जैसे लिखा है 'काशी का मैं बासी बाभन नाम मेरा परबीना। एक बेर हरिनाम बिसारा पकरि जुलाहा कीना।' नानक जी तथा अन्य गुरुओं की भाषा में भी पंजाबी होने के कारण खड़ी बोली का मेल अधिक है। रज्जब जी की साखियों में खड़ी बोली का मेल अधिक है। यह सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। स्वामी निपट निरंजन ने शुद्ध खड़ी बोली की काफी कविता की है। दरिया साहब की कविता में भी खड़ी बोली का मिश्रण कम नहीं है। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का अंत है। बाबा दूलमदास ने भी उर्दू-मिश्रित खड़ी बोली में कविता की है। राधास्वामी मत के कुछ गुरुओं ने भी अपना ज्ञान खड़ी बोली में प्रगट किया है। संतों को अपना पंथ जनसाधारण में फैलाना था और वे हिंदी के साहित्य का साधारण ज्ञान भी रखते थे, इसलिए परंपरा की काव्य भाषा में रचना करते हुए भी वे उसे सरल तथा खड़ी

बोली संयुक्त रखते थे। इन संतों की परंपरा कबीरदास जी से आरंभ हुई और अब तक चली आ रही है।

एकनाथ जी सोलहवीं शताब्दी के अंत में हुए। इन्होंने मराठी के सिवा खड़ी बोली हिंदी में कविता की है। यह कुछ दिन काशी

में भी आकर रहे थे, इससे हिंदी का अच्छा मर्यादित ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बाबा तुकाराम तथा

उनके भाई कान्होबा ने भी हिंदी में कविता की है, जिनमें दूसरे की हिंदी में खड़ी बोली और ब्रज-भाषा का बराबर मेल है। जनार्दन स्वामी के शिष्य जनी जनार्दन ने खड़ी बोली ही में कविता की है। महानुभाव-पंथी कृष्ण मुनि की रचना भी खड़ी बोली ही में है। श्री समर्थ रामदास जी ने भी कुछ उपदेश खड़ी बोली में दिया है। नाथस्वामी अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए, जिनका एक ग्रंथ खुशरंग हजारा मिलता है। यह हिंदी में है, जिसमें विशेषतः खड़ी बोली ही की रचना है। श्री समर्थ के शिष्य बालकराम तथा प्रशिष्य निरंजन, जयवंत आदि ने खड़ी बोली में कविता की है। महाराष्ट्र विदुषी बयाबाई की कविता हिंदी खड़ी बोली है तथा सुंदर है। सोहराबनाथ जी महाराष्ट्र सिंधिया के समसामयिक थे। इन्होंने खड़ी बोली हिंदी में कविता की है।

इस श्रेणी में पहिला नाम छत्रपति श्री शिवा जी का लिया जायगा, जिन्होंने खड़ी बोली हिंदी में अपने इष्टदेव का ध्यान किया है। इनके आश्रित भूषण की कविता में खड़ी बोली का

भी प्रयोग हुआ है। इनके पुत्र शंभा जी भी कविता करते थे।

इसके अनंतर सिंधिया राजवंश में महाद जी दक्षिण के नरेश तथा तथा दौलत राव जी ने हिंदी में कविता की है। उनके आश्रित कविगण इन लोगों की भाषा में खड़ी बोली का मेल है।

इन लोगों के सिवा तीन मुसल्मान सुलतान भी साहित्य-सेवी हुए हैं। गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने कविता का एक बहुत बड़ा दीवान लिखा है, जिसकी भाषा फारसी-मिश्रित खड़ी बोली है और फारसी के छंद शास्त्र के अनुसार रची गई है। इन्हीं दो कारणों से वह हिंदी से कुछ भिन्न हो पड़ी है और अब वह रचना-संग्रह उर्दू का प्रथम दीवान माना जाने लगा है। यह सं० १६३७ वि० में गद्दी पर बैठा था। इसका पुत्र मुहम्मद कुतुबशाह भी कविता करता था। मुहम्मद कुली की बहिन मलिकैजमाँ बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह को व्याही गई थी। इस सुलतान ने भी खड़ी बोली हिंदी में नौ रस नामक संगीत ग्रंथ लिखा है। इस राजवंश के आश्रित नसरती तथा हाशिमि ने दखिनी भाषा में मसनवियाँ लिखी हैं, जिनकी भाषा में खड़ी बोली का प्राधान्य है। शेख सादी ने शुद्ध खड़ी बोली में कविता की है।

बादशाह अकबर के दरबारियों में राजा टोडरमल तथा नवाब अब्दुरहीम खाँ खानखानाँ बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। इनका

वृत्तांत पहिले लिखा जा चुका है। इन दोनों सज्जनों मुगल दरबार ने खड़ी बोली में अच्छी कविता की है। रहीम का

मदनाष्टक तथा कुछ स्फुट बरवै खड़ी बोली में प्राप्त हैं। राजा टोडरमल ने एक पुस्तक लिखी है, जिसमें कविता ही में आपने हिसाब किताब हुंडी व्यवहार आदि का विवरण दिया है। अकबर ही के दरबार में तानसेन गवैये भी रहते थे, जिन्होंने खड़ी बोली में भी कुछ पद बनाए हैं। इनके पुत्र तानतरंगसेन ने पंजाबी तथा खड़ी बोली में बहुत से पद बनाए हैं। जहाँगीर के पुत्र शह-यार की खड़ी बोली हिंदी का एक कवित्त मिला है। रागकल्पद्रुम में आलमगीर के नाम से कुछ पद मिलते हैं। इनके पुत्र आजम शाह ने भी हिंदी में कविता की है। उर्दू के पिता वली के आश्रय-दाता मुहम्मदशाह रंगीले तथा बहादुरशाह 'जफ़र' ने खड़ी बोली हिंदी में कुछ रचना की है।

सुकवि ताज की कुछ कविता की भाषा पंजाबीपन लिए हुए खड़ी बोली है और कुछ में शुद्ध ब्रज-भाषा है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। कुलपति जी का प्रायः यही समय है और इन्होंने खड़ी बोली में भी सुंदर कविता की है। घनानंद जी सुप्रसिद्ध कवि थे और इन्होंने ब्रज-भाषा में बहुत सी रचना की है। खड़ी बोली में इन्होंने विरहलीला नाम की एक छोटी पुस्तिका लिखी है।

उत्तर मध्य-काल

सं० १८००—१८५० वि०

इस काल के प्रथम सुकवि स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के अवलंबी सीतल हुए हैं। इनका रचना काल उन्नीसवीं

शताब्दी का आरंभ है। कहा जाता है कि यह हरदोई शाहाबाद के निवासी थे। इनकी रचना गुलज़ार चमन सीतल चार भाग में विभाजित है, जो अब संपूर्ण प्राप्त है। इनकी भाषा में ओज प्रचुरता से है और काव्य-चमत्कार के साथ साथ भाव का निर्वाह भी अच्छा हुआ है। फारसी तथा संस्कृत दोनों के यह अच्छे ज्ञाता थे। इनकी कविता में ब्रज-भाषा की शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है।

रसरंग मुसल्मान थे और वैष्णव हो गए थे। यह भाँसी के रहने वाले थे। इन्होंने ब्रज-भाषा तथा खड़ी-बोली में कविता की है।

भूधरदास जैन आगरा-निवासी खंडेलवाल थे। रसरंग तथा भूधरदास यह महाराज जयसिंह सवाई के भी आश्रित रहे थे। इन्होंने ब्रज-भाषा में कविता की है और कहीं कहीं इस प्रकार ज्ञान कहा है, जैसे 'निज ब्रह्म को चीन्हा नहीं ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ' ! इनकी कई रचनाएँ जैनशतक, पार्श्वपुराण, भूधरविलास आदि मिलती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' तथा इंशाअल्लाहखाँ 'इंशा' हुए, जो दोनों ही फारसी के पूरे विद्वान् थे। फ़ारसी-शब्द-संग्रहों में दोनों ही नियाज़, इंशा का नाम लिया जाता है। नियाज़ महाशय अपनी रचना मुंतख़बुत्तवारीख में लिखते हैं कि उन्होंने १२५०० पंक्ति कविता फारसी, उर्दू तथा भाषा में बनाई। 'इंशा' ने स्वरचित रानी केतकी की कहानी में थोड़ी सी कविता भी दी

है, जो शुद्ध खड़ी बोली में है। इनकी उर्दू कविता में भी कहीं कहीं ऐसी सरल भाषा का प्रयोग किया गया है कि वह उर्दू बहर में हिंदी कविता मालूम पड़ती है।

यह हरिदास जी के टट्टी संप्रदाय के भक्त कवि हो गए हैं। इनका कविता काल उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनकी रचनाएँ ललित-प्रकाश, सरस मंजावली और सहचरिशरण, सूदन गुरु प्रणालिका मिली हैं। यह श्री राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त थे और उन्हीं इष्टदेव की लीला-वर्णन में मग्न रहते थे। कवित्व शक्ति भी इनमें कम नहीं थी और काव्य-कला के मर्मज्ञ भी थे। इनकी भाषा पर पंजाबीपन का पुट है। इन्होंने ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली दोनों में कविता की है। खड़ी बोली की कविता में सरसता कम नहीं हो पाई है और साथ ही ओज की मात्रा बढ़ गई है। सूदन सुप्रसिद्ध कवि हो गए हैं। भूषण के समान इन्होंने ने भी कहीं कहीं खड़ी बोली का प्रयोग किया है।

इसी समय के लगभग कारेखाँ फकीर तथा दीनदरवेश हुए हैं, जिनमें एक सागर (मध्यप्रदेश) के तथा दूसरे गुजरात में पालनपुर के निवासी थे। इन दोनों की कविता में खड़ी बोली ही का अंश अधिक है। मुहम्मद फारूक के पुत्र बली मुहम्मद 'नजीर' दिल्ली-निवासी थे। इन्होंने दीर्घ आयु पाई थी। इनकी मृत्यु सं० १८८७ में हुई थी। यह दिल्ली से आगरे आ बसे थे और आगरे के बाद-

शाही नाम अकबराबाद पर अकबराबादी कहलाए। यह बड़े संतोषी थे और निमंत्रण पाकर भी कहीं नहीं गए। धार्मिक विचार भी इनके उदार थे। अवस्था बढ़ने पर इनके विचार सूफियों से हो गए। इन्होंने कई सहस्र शेर लिखे हैं। इनके 'कृष्ण कन्हैया का बालापन' प्रसिद्ध हो गया है। इन्होंने खड़ी बोली हिंदी का उर्दू के लंबे-लंबे बहरों में बड़ी सफलता से प्रयोग किया है। भाषा ऐसी सरल है कि जनसाधारण उसे अच्छी तरह समझ लेते हैं। मुसल्मान कवि होते हुए भी इनमें उर्दू के किसी भी श्रेष्ठ कवि से अधिक भारतीयता पाई जाती है। इनका उर्दू-भाषा पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। इनकी रचना में विनोद की मात्रा भी प्रचुर है। इनका पैसा नामा, रोटी नामा आदि जनसाधारण में काफी प्रचलित हैं।

काशी-निवासी नागर ब्राह्मण वत्सराज का उपनाम प्रेमरंग था। इनके शिष्य पंड्या सुरदेव (बाबू) तथा पुत्र मंसाराम ने प्रेमरंगजी के नाम पर कई पुस्तकें बनाईं। वाल्मीकिय रामायण के आधार पर आभास रामायण, पदावली, श्लोकावली, गरबावली आदि लिखी गईं। इनमें खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। इनका रचनाकाल सं० १८५८-८० वि० है।

ललितकिशोरी तथा ललितमाधुरी दोनों भाइयों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इन लोगों का समय बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध है। आप लोगों ने भी खड़ी बोली में अच्छी कविता की है। इन

दोनों की कविताओं का संग्रह 'रघुरस कलिका' नाम से तीन जिल्दों में छपा है। भारतेन्दु जी ने भी इसी समय दूसरथ विलाप, लावनी आदि कुछ कविता खड़ी बोली में लिखी थी। इनके समकालीन अनेक अन्य सज्जनों ने भी इसमें कुछ कविता की थी। शिवभक्त देवीसहाय जी ने बहुत से पद भजन बनाए हैं, जिनमें खड़ी बोली के भी बहुत से हैं। इनका जन्म सं० १८६८ तथा मृत्यु सं० १९४४ वि० था।

लखनऊ के नवाबगण उर्दू कवियों को आश्रयदान करने के लिए प्रसिद्ध थे, पर संगीत प्रेम के कारण हिंदी राग रागिनियों के रचेताओं का वहाँ मान कम न था। अंतिम वाजिदअली शाह नवाब वाजिदअली शाह सं० १९०४ में गद्दी तथा ठुमरी पर बैठे, सं० १९१३ में गद्दी से उतारे गए तथा सं० १९४४ में कलकत्ते में मरे। इनकी दो बेगमें तथा तीन पुत्र भी उर्दू में कविता करते थे। अस्तर उपनाम से इन्होंने बहुत सी कविता उर्दू में की है। खड़ी बोली हिंदी में इन्होंने स्वयं तथा इनकी बेगम ने बहुत सी ठुमरियाँ बनाई हैं, जो अच्छी बन पड़ी हैं। ठुमरियों में यह अपना उपनाम जान आलम पिया रखते थे। इन्हीं की वज्जन पर कदर पिया, सनद पिया आदि कई ठुमरी-रचेता बहुत प्रसिद्ध हुए, जिन सबकी भाषा खड़ी बोली ही रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिर्जापुर में तुकनगिरि हुए, जिन्होंने पचड़े को लावनी का रूप दिया। पचड़ा एक प्रकार का गाना

था जो साधारणतः स्त्रियों में बहुत दिनों से बनी, ख्याल आदि प्रचलित चला आता है। इन्होंने माया के प्रपंच पर तथा उससे मन को हटाकर ईश्वर की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया। इनकी शिष्य परंपरा में रिसा-गिरि तथा देवीसिंह हुए। ये दोनों बहुत प्रसिद्ध लावनी-रचेता तथा गायक हो गए हैं। इन दोनों में आपस में कुछ मनोमालिन्य हो गया तो दोनों ने अपनी-अपनी अलग शाखा चलाई। रिसा-गिरि ने तुर्रे का तराना तथा शिवाजी का भगवा बाना अपनाया। इन्होंने ब्रह्मज्ञान, माया प्रपंच आदि खूब कहा है। देवीसिंह ने अलगी तराना तथा सखी का बाना अपनाया और भक्ति से भरी हुई लावनियों का प्रचार किया। इनके शिष्य बनारसी उपनाम काशीगिरि प्रसिद्ध तथा सफल लावनी-रचेता हुए हैं। इनके सिवा डुंडा, छत्र, मुकुट नाम के कई पंथ चलाए गए। इन लावनियों में उर्दू के बहरों का प्रयोग हुआ है और जो छोटी रंगत, बड़ी रंगत, लँगड़ी रंगत, बहरे तवील आदि में विभाजित की गई हैं। ख्याल भी लावनी ही का एक भेद है। बनारसी का लावनी-ब्रह्मज्ञान एक अच्छा खासा ग्रंथ है। हरिनारायण का भरतपुर-पुद्ध तथा रुक्मिणी मंगल, रामनारायण का राधिका-मंगल और अनुमंत की लीला पचीसी लावनियाँ ही हैं। मंगीन भी एक प्रकार का काव्य है, जिसका ऐसा नामकरण इसलिए हुआ कि यह गाकर ही रदा जा सकता है। इसमें एक-एक दोहे के बाद एक-एक चौबोला आता है। लछमनदास कृत गोपीचंद और उनके शिष्य हरदेव

सिंह कृत 'संगीत रूप बसंत' बीसवीं शताब्दी विक्रम के आरंभ में लिखे गए थे। इस प्रकार के बहुत से संगीत इस काल में लिखे गए, जिनका विवरण देना इस छोटे से इतिहास में आवश्यक नहीं है। संगीत के सिवा 'हीर रांभा' आदि पद्यात्मक कहानियाँ भी मिलती हैं। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जिनमें गद्य-पद्य दोनों ही हैं। इस प्रकार की रचनाओं का अब प्रायः उन्मूलन हो गया है और इनका महत्व खड़ी बोली कविता के प्रचार करने के कारण विशेष है।

वर्तमान काल

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अब तक खड़ी बोली की कविता के लिए प्राचीन प्रथानुसार कवित्त-सवैया आदि प्रयुक्त होते थे या फारसी के बहर काम आते थे। तीसरा लावनी ख्याल का ढंग भी काम में आता था। पर वर्तमान काल में संस्कृत छंदों का तथा बाद को अतुकांत और मनमाने छंदों का प्रयोग बढ़ने लगा। इस काल के प्रथम कवि श्रीधर पाठक हैं,

श्रीधर पाठक जिनका जन्म सं० १९१६ वि० में हुआ था।

आपने एंट्रेंस पास करके सं० १९३७ में सरकारी नौकरी कर ली और बराबर उन्नति करते रहे। आपने नौकरी छोड़ने पर प्रयाग में अपना निवासस्थान बनाया और वहीं सं० १९८५ में आपकी मृत्यु हुई। गोल्डस्मिथ के तीन काव्यों का इन्होंने अनुवाद किया, जिनमें एक 'एकांतवासी योगी' खड़ी बोली हिंदी में सं० १९५३ वि० में प्रकाशित हुआ था। इसके बहुत

दिनों बाद दूसरा 'श्रांत पथिक' नाम से खड़ी बोली ही में निकला । तीसरे का अनुवाद 'ऊजड़ग्राम' नाम से ब्रज-भाषा में हुआ । स्फुट कविता भी इन्होंने दोनों में काफी किया, पर यह खड़ी बोली ही की कविता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए । इन्होंने खड़ी बोली के लिए लावनी, रोला, सवैये आदि के सिवा कुछ नए छंद भी निकाले तथा अतुकांत छंद भी प्रयुक्त किए हैं । इनकी कविता में सरसता तथा प्रसादगुण प्रचुर है । प्राकृतिक वर्णन भी इन्होंने अच्छा किया है ।

इस काल के आरंभ में एक अयोध्या प्रसाद खत्री हुए थे, जिन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' तथा 'खड़ी बोली पद्य' नामक पुस्तकें छपाई और उसके लिए खूब आंदोलन भी करते फिरे थे । इन्हींके हमनाम पं० अयोध्या-उपाध्याय सिंह उपाध्याय ने खड़ी बोली हिंदी में कविता करना इस काल के आरंभ ही में शुरू कर दिया था और उर्दू छंद ही पहिले पहिल प्रयुक्त किए थे पर जब संस्कृत वृत्तों के प्रयोग का आरंभ आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हो चुका तब उपाध्याय जी ने भी इसे ग्रहण किया और आपका प्रणीत खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' संस्कृत वर्ण वृत्तों ही में सं० १६७१ में प्रकाशित हुआ । संस्कृत-पदावली बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई है । यह काव्य वर्णनात्मक है । श्रीकृष्ण की बाललीला तथा ब्रज-रक्षा के वर्णन अच्छे हैं । विरह-वर्णन भी अनूठा हुआ है । चोखे चौपदे तथा पद्य-प्रसून में बोलचाल की

सरल भाषा प्रयुक्त हुई है और प्रथम में मुहाविरों की खासी खपत है। इस प्रकार सरल तथा संस्कृत-गर्भित दुरूह दोनों प्रकार की भाषा का आपने सफलता-पूर्वक प्रयोग किया है।

आचार्य द्विवेदी जी ने जिस समय हिंदी-साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया था उसी समय से वह भाषा की सुव्यवस्था की ओर

महावीरप्रसाद

द्विवेदी

बराबर दत्तचित्त रहे। सरस्वती का संपादनभार हाथ में लेने पर यह गद्य तथा पद्य दोनों ही के लेखों की भाषा को सुचारु तथा सुव्यवस्थित करने के प्रयास में बराबर लगे रहे और बहुत कुछ अंशों में वे सफल भी हुए। यह स्वयं पहिले ब्रज-भाषा ही में कविता करते थे पर बाद को इन्होंने खड़ी बोली अपनाया। यद्यपि खड़ी बोली के लिए संस्कृत वृत्तों को ही इन्होंने उपयुक्त माना पर तब भी इन्होंने कुछ कविता चलते हिंदी छंदों में किया है। इनका कुमारसंभवसार इसी प्रकार के छंदों में है। इनकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से बहुत से नए कवि खड़ी बोली में कविता करने लगे, जिनकी रचना के उदाहरण सरस्वती की पुरानी फाइलों के उलटने से मिल जायेंगे। आचार्यवर की शिष्य शाखा में बाबू मैथिलीशरण गुप्त, स्व० पंडित रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि मुख्य हैं। द्विवेदी जी का पौष कृष्ण, १५ सं० १९६५ को देहांत हो गया।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान काल के प्रसिद्ध कवि हैं। आपकी आरंभिक रचनाएँ सरस्वती ही में द्विवेदी जी की देखरेख में निकलती रही थीं और इस कारण इनकी भाषा अत्यंत परि-

मार्जित हो उठी। विशेष संस्कृत-गर्भित न करते हुए तथा उर्दू का भी पुट प्रायः नहीं देते हुए इन्होंने सरल शुद्ध हिंदी ही का प्रयोग किया है। इनका पहिला काव्य-ग्रंथ 'भारत-भारती' मैथिलीशरण गुप्त है, जिसमें भारत की कुदशा का बयान हुआ है। यह कुछ दिन बहुत प्रसिद्ध रही। खंडकाव्य जयद्रथ-वध अच्छा बन पड़ा है। माइकेल मधुसूदनदत्त की वीरांगना, विरहिणी व्रजांगना तथा मेघनादवध और नवीन चंद्र का पलाशीर युद्ध के इन्होंने अच्छे पद्यमय अनुवाद प्रकाशित किए हैं। इनके सिवा द्वापर, सैरिंधी, महाकाव्य साकेत, यशोधरा आदि कई उत्तम काव्यग्रंथों का इन्होंने प्रणयन किया है। छायावाद के ढंग की भी इनकी बहुत सी कविता आदर प्राप्त कर चुकी है।

उपाध्याय जी संस्कृत के ज्ञाता थे। आपकी खड़ी बोली की स्फुट कविताएँ रोचक तथा सुंदर हैं। रामचरितचिंतामणि प्रबंध-काव्य अनेक प्रकार के छंदों में लिखा गया रामचरित उपा०, है। इनकी भाषा में स्वच्छता तथा सौष्ठव दोनों लोचनप्रसाद पांडेय हैं। पांडेय जी की छोटी-छोटी कविताएँ सरस होती हैं। ये सरस्वती में बराबर निकलती थीं। इनका मृगी-दुःख-मोचन अच्छा बन पड़ा है। इनका २६ कार्तिक सं० १९६५ को शरीरांत हो गया। इन सुकवियों के सिवा इस काल में बहुत से कवि हुए हैं, जिनकी कविता पर द्विवेदी जी का प्रभाव पूर्ण रूपेण पड़ा है।

पंडित नाथूराम शंकर जी शर्मा का जन्म सं० १९१६ वि० में

अलीगढ़ में हुआ था और इनकी मृत्यु सं० १९८६ में हुई । यह पहिले ब्रज-भाषा ही में कविता करते थे पर बाद को खड़ी बोली में कविता करने लगे । इनका दोनों ही शंकर जी पर पूरा अधिकार था और ये खूब गठी हुई तथा संयत भाषा काम में लाते थे । आपकी कविता में ओज अधिक रहता है और कभी कभी वह उड़ड़ता की श्रेणी तक पहुँच जाता है । यह कवि के हृदय का आभास देता है, क्योंकि जब वह किसी विषय का सच्चे दिल से विरोध करता है तब तीव्र वाणी का भी प्रयोग स्वतः हो जाता है । व्यंग्य तथा वक्रोक्ति भी इनकी कविता की विशेषता है । इनकी फुटकर रचनाएँ बराबर सरस्वती आदि पत्रों में निकलती रही हैं ।

राय देवीप्रसाद जी पूर्ण का उल्लेख ऊपर हो चुका है । इन्होंने भी खड़ी बोली में बाद को कुछ कविता की है । पं० गया-प्रसाद शुक्ल जी 'सनेही' खड़ी बोली के क्षेत्र में 'त्रिशूल' बन गए । यह सहृदय तथा भावुक कवि हैं । उर्दू के भी आप शायर हैं । पं० रामचंद्र शुक्ल अच्छे गद्य लेखक तथा समालोचक होने के सिवा ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली के सुकवि हैं । आप इतने सहृदय हैं कि वन्य प्रकृति के दृश्यों पर भी अनुरक्त रहते हैं । आपका बुद्धचरित अच्छा बन पड़ा है । आप बहुत ही समझ-बूझ कर कुछ लिखते हैं, इसलिए आपकी लेखनी से रचनाओं की धारा नहीं प्रवाहित हुई है । इनकी स्फुट कविताएँ कभी कभी पत्रों में दिखला जाती हैं । पं० रामनरेश त्रिपाठी के मिलन, पथिक

तथा स्वप्न तीन खंड काव्य निकल चुके हैं। भाषा-सौंदर्य तथा भावुकता इनमें अच्छी है। इनकी स्फुट रचनाएँ मनोहर होती हैं। हिंदी कविता का दो भागों में इन्होंने एक अच्छा संग्रह निकाला है। आपने ग्राम्य गीतों का एक अच्छा संग्रह भी प्रकाशित किया है। लाला भगवानदीन जी जिस प्रकार पहिले ब्रज-भाषा में कविता करते थे, उसी प्रकार खड़ी बोली में भी कविता करने लगे थे। इन्होंने वीर पंचरत्न, वीर क्षत्राणी तथा वीर बालक नामक तीन काव्य लिखे। खड़ी बोली की इनकी कविता में वीररस प्रधान है और फारसी बहर तथा उर्दू की शब्दावली का बराबर प्रयोग है। लाला साहब प्राचीन हिंदी साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे और इन्होंने बहुत से काव्य ग्रंथों की टीकाएँ लिखी हैं। पं० रूपनारायण पांडेय खड़ी बोली की कविता ही के लिए प्रसिद्ध हैं पर इन्होंने भी ब्रज-भाषा में कुछ कविता की है। वन विहंगम, दलित कुसुम आदि शीर्षकों ही से आपकी भावुकता तथा हृदय की उदारता लक्षित होती है। पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न संस्कृत के विद्वान् तथा हिंदी के सुकवि हैं। बाबू सियारामशरण गुप्त भी सामाजिक कविता लिखने में विशेष सफल हुए हैं। पं० अनूप शर्मा की कविता वीररस की होती है। स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी सुकवि हो गए हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह खड़ी बोली के उत्कृष्ट कवि हैं। इन्होंने कवित्त सवैयाओं में खड़ी बोली का सफलता से प्रयोग किया है। गुरु भक्तसिंह तथा पं० माखनलाल चतुर्वेदी खड़ी बोली के सुकवि हैं।

छायावाद या रहस्यवाद क्या है ? यह कितना प्राचीन है ?

या कुछ ही दिन हुए कि किसी प्रवर्तक ने साहित्य-क्षेत्र में इसका आरंभ किया है, इत्यादि की विवेचना करने का इस छोटे से इतिहास-ग्रंथ में स्थान नहीं है। अतः यहाँ कुछ छायावाद, रहस्यवाद ऐसे कवियों का, जो छायावादी या रहस्यवादी कहे जाते हैं या अपने को स्वयं मानते हैं, संक्षिप्त उल्लेख कर दिया जाता है। इसकी विशेषता इतनी कही जाती है कि यह कविता असीम, अव्यक्त, अगोचर, अनंत आदि की ओर अधिक झुकी रहती है और विश्व-प्रेम, अज्ञात वेदना आदि से भरी रहती है। बाबू जयशंकर प्रसाद जी, कुछ लोगों के मतानुसार, इस वाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। आपकी कविताएँ उच्च कोटि की होती हैं। भाषा सुसंस्कृत तथा संस्कृत-प्रधान होती है। पं० सुमित्रानंदन पंत तथा पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला इस वाद के उत्कृष्ट कवि हैं। इन लोगों के सिवा कई अन्य सुकविगण भी मौजूद हैं, जिनका स्थान साहित्येतिहास में अभी निर्धारित नहीं हो सका है, क्योंकि इनमें प्रायः सभी अभी उदीयमान कवि हैं। *

* यह परिच्छेद अतीव शीघ्रता में लिखा गया है और बहुत ही संक्षिप्त है। खड़ी बोली हिंदी के साहित्य का इतिहास अभी तक अलग नहीं लिखा गया है, केवल प्राचीन हिंदी काव्यभाषा के साहित्येतिहास के साथ साथ उसका उल्लेख हो गया है। विचार है कि यह परिच्छेद विस्तृत कर पुस्तक रूप में लिखा जाय और तभी खड़ी बोली भाषा के विकास तथा साहित्य पर पूरा प्रकाश पड़ सकेगा।

दसवाँ परिच्छेद

गद्य-साहित्य का विकास

प्रत्येक भाषा में यह एक नियम सा देखा जाता है कि उनके साहित्य में पद्यांश के बहुत कुछ विकसित तथा पुष्ट हो जाने पर ही गद्यांश की रचना का आरंभ होता है। इसका विषय प्रवेश प्रधान कारण यही हो सकता है कि कविता भावावेश-मूलक होने से पहिले ही आविर्भूत हो जाती है और गद्य सभ्यता तथा विषय-गंभीरता आदि से लदे होने से वादको अवसर पाकर विकसित होता है। इसी नियम के अनुसार हिंदी साहित्य में गद्य की रचनाएँ बहुत पीछे की मिलती हैं। कुछ दिन पहिले तक यह प्रायः निर्विवाद रूप से मान लिया गया था कि हिंदी गद्य साहित्य तथा ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी का आरंभ साथही साथ हुआ था और लल्लूलालजी इसके जन्मदाता थे। पर १५ वर्ष पहिले स्वसंपादित प्रेमसागर की भूमिका में मैंने दिखलाया था कि ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। इसी भूमिका के आधार पर डा० टी० ग्रेहम बेले डी० लिट ने एक लेख 'बुलेटिन' में प्रकाशित कराकर इन बातों का समर्थन किया था। वास्तव में लल्लूलालजी के शताब्दियों पहिले की गद्य पुस्तकें वर्तमान हैं और उनके सम-कालीन तीन अन्य सज्जनों ने एक साथ खड़ी बोली हिंदी में गद्य-रचना की थी।

यह निर्णय करना कि गद्य रचना का आरंभ कब हुआ, कठिन ही नहीं असंभव है पर जो प्राचीनतम गद्य के नमूने प्राप्त हैं उन्हीं के समय के कुछ पहिले से उसका आरंभिक गद्य आरंभ माना जा सकता है। महात्मा गोरखनाथजी का समय अत्यंत संदिग्ध है पर उनका समय लगभग दसवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। इनकी एक पुस्तक शिष्ट-प्रमाण गद्य में लिखी कही जाती है। महाराज पृथ्वीराज तथा रावल समरसिंह के समय के कुछ दानपत्र हिंदी में मिले हैं, जो तेरहवीं शताब्दी के हैं, पर ये भी संदिग्ध समझे जाते हैं। इसके अनंतर दो शताब्दियों तक की गद्य-रचना का अभी तक पता नहीं चला है।

भक्ति काल का जिस समय पूरा दौरादौर था, उसी समय महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के पुत्र गो० विठ्ठलनाथ जी ने शृंगार-रस-मंडन नामक गद्य-ग्रंथ लिखा, जो ब्रजभाषा ब्रज-भाषा गद्य ग्रंथ गद्य की पहिली पुस्तक है। इनके पुत्र गो० गोकुलनाथ जी ने वन-यात्रा, चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता नामक तीन ग्रंथ लिखे। इनके सिवा अपने पितामह कृत सिद्धांत-रहस्य पर सिद्धांत-रहस्य-वार्ता टीका भी इन्होंने लिखी है। अष्टछाप के सुकवि नंददास जी ने नासिकेत पुराण तथा विज्ञानार्थ प्रकाशिका टीका दो गद्य-ग्रंथ लिखे हैं, ऐसा कहा जाता है। इन्हीं के गानकाजीना सुकवि तथा सुलेखक हरिराय जी ने 'श्री महाप्रभू की द्वादस निज वार्ता',

‘श्री आचार्य जी महाप्रभून की घरू वार्ता’ आदि कई पुस्तकें रची हैं। शैली अच्छी है। इस प्रकार ब्रज-भाषा में अनेक गद्य-ग्रंथ लिखकर गद्य साहित्य की नींव को इन भक्तवरो ने दृढ़ कर दिया था। ये सब ग्रंथ शुद्ध बोलचाल की ब्रज-भाषा में लिखे गए हैं, जिनमें फारसी आदि के विदेशीय वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो बोलचाल में आ गए थे। ये ग्रंथ साहित्यिक कौशल तथा नैपुण्य दिखलाने को नहीं लिखे गए थे, केवल उपदेश तथा प्रचारार्थ भक्तों के विवरण देने को लिखे गए थे। इसके बाद ब्रज-भाषा के गद्य ग्रंथों की रचना केवल टीका के रूप में प्राप्त होती है, जो प्रायः अत्यंत शिथिल होती थी। चैतन्य चरित्रसार नामक ब्रज-भाषा का एक गद्य-ग्रंथ मिला है, जिसका लिपिकाल सं० १६४७ वि० है। लेखक का नाम नहीं ज्ञात हुआ पर लेखन-शैली अच्छी है।

सं० १६२७ में गंगभाट ने “चंद-छंद बरनन की महिमा” लिखी, जिसमें खड़ी बोली के गद्य का आरंभिक रूप मिलता है। ‘इतना

सुन के श्री पातसाहि जी श्री अकबर साहि जी
खड़ी बोली गद्य आध सेर सोना नरहर दास चारन को दिया।’

का विकास यह आज से प्रायः पौने चार सौ वर्ष पहिले की

ऊँची हिंदी का नमूना है। इसके बाद सं० १६८० वि० में जटमल ने जो गोराबादल की कथा लिखी थी, उसके सन् १८२० के गद्यानुवाद का नमूना इस प्रकार है—‘गोराबादल की कथा गुरु के बस सरस्वती महरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते

गुरु कूँ सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ।' पर इस खड़ी बोली गद्य की परंपरा कुछ साधारण रचनाओं के सिवा विशेष फूली फली नहीं और यही कारण है कि ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी से इसका आरंभ मान लिया गया था।

गद्य साहित्य के इस आरंभ काल में ब्रज-भाषा, अवधी आदि काव्य भाषा के होते हुए भी खड़ी बोली हिंदी ही गद्य के लिए अपनाई गई। इसका मुख्य कारण यह है कि उस

गद्य के आदि प्रवर्तक समय तक खड़ी बोली हिंदी का प्रचार उत्तरी

भारत के जनसाधारण में काफी हो गया था और जो सज्जन गद्य साहित्य के आदि प्रवर्तक हुए हैं, उनमें दो ने स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छानुसार गद्य लिखा था। एक हिंदू होने पर भी फारसी के विद्वान्, कवि तथा मुगल दरबार के आश्रित थे और दूसरे उर्दू-फारसी के पूर्ण ज्ञाता, मुकवि तथा लखनवी दरबार के आश्रित थे। अन्य दो ने ईस्ट इंडियन कंपनी की ओर से नियुक्त डा० गिलक्राइस्ट की आज्ञानुसार एक साथ बतलाए हुए मार्ग से हिंदी गद्य लिखना शुरू किया। इन लोगों को उर्दू-फारसी जानने वाले मुंशी सहायतार्थ दिए गए थे और इसी से उर्दू से फारसी अरबी के शब्द निकाल कर संस्कृत शब्दों को स्थान देने से हिंदी के बनने की धारणा फैल गई थी। इन चार सज्जनों के नाम मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाह खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र थे।

इस स्थान पर पहिले भारत-सरकार के भारतीय भाषाओं

के पुनरुत्थान के प्रयास का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है, जिससे तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति भी स्पष्ट हो जायगी।

मुगल-सम्राट् औरंगजेब के राज्य-काल के उत्तरार्द्ध ही में भारत में अशांति की मात्रा बढ़ने लगी थी और विक्रमीय अठारहवीं शताब्दी में प्रायः वह भयंकर स्थिति हो तत्कालीन राजनैतिक गई थी, जो कई शताब्दियों तक पहिले न दीख परिस्थिति पड़ी थी और न उसके देख पड़ने की आशा है।

उस शताब्दी में दौ सौ वर्ष से दृढ़ता से जमे हुए मुगल साम्राज्य का पतन और उसके ध्वंसावशेष पर छोटी-छोटी कितनी रियासतों का निर्माण हुआ था। इसी बीच अपने देश की मराठा, सिख आदि कई जातियों के उत्थान तथा पतन का दृश्य भी दिखला गया था। साथ-साथ अन्य देशों से, पास पड़ोस तथा सात समुद्र पार से अनेक जातियाँ इस देश की जमा लूटने के लिए यहाँ बराबर आ-जा रहीं थीं। इन उपद्रवियों के क्रमशः शांत होते-न-होते यहाँ अपने ही देश के पिशाचगण ने पिंडारों और ठगों के रूप में ऐसा अंधेर मचा दिया था कि यात्रियों का तो दूर छोटे-छोटे ग्रामों के निवासियों का प्राण और धन सर्वदा संकट में रहता था। ऐसी शताब्दी का साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान न पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यूरोप से आई हुई जातियों में एक अंग्रेज जाति भी थी, जिसने यहाँ सन् १६०० ई० में पहिली कंपनी स्थापित की थी। इसने अन्य यूरोपीय जातियों को परास्त कर क्रमशः भारत में अपना प्रभुत्व फैलाना

आरंभ किया और सवा दो सौ वर्ष के बाद व्यापार छोड़कर यह कंपनी साम्राज्य-ग्रंथ में लग गई। व्यापार-काल में इसे रुपये कमाने के सिवा दूसरा कार्य नहीं था और न उसे उन लोगों के सुख ज्ञान-वृद्धि आदि से कुछ प्रयोजन था, जिनसे वह केवल लाभ उठाना चाहती थी। पर ज्यों-ज्यों भारत का मान-चित्र अधिकाधिक लाल होता गया त्यों त्यों उसे अपने धर्म का भी ध्यान बढ़ता गया। प्रथम बड़े लाट वॉरेन् हेस्टिंग्स ने संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं पर विशेष ध्यान दिया था। इसी समय बंगाल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हुई थी। सन् १७६१ ई० में लार्ड वेलेजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज खोला, जिसमें संस्कृत, फारसी के पठन-पाठन का प्रबंध था। व्यापार-काल के दुर्भाषियों का समय व्यतीत हो चुका था और अंग्रेजों को भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो चला था, पर इस विचार की पूर्ति के लिए पाठ्य-ग्रंथ नहीं थे। इसलिए लार्ड वेलेजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल डा० गिलक्राइस्ट को यह कार्य सौंपा। इसी कॉलेज में उर्दू तथा हिंदी के गद्य साहित्य के विकास का आरंभ नए-नए गद्य-ग्रंथों के निर्माण-द्वारा किया गया था, जिसके प्रथम प्रिंसिपल डा० गिलक्राइस्ट थे।

इनका जन्म सन् १७५६ ई० में एडिंबरा में हुआ था। यह कंपनी की नौकरी में डाक्टर की हैसियत से सन् १७६४ ई० में कलकत्ते आये। इन्होंने प्रांतीय बोलियों की जानकारी को डा० गिलक्राइस्ट संस्कृत, फारसी के ज्ञान से अधिक आवश्यक

बतलाया और हिंदी-उर्दू के प्राधान्य को स्वीकार कर उन्हीं भाषाओं के व्याकरण, कोष तथा गद्य-ग्रंथ के निर्माण पर अधिक ध्यान दिया। यह सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल नियुक्त हुए और पाँच वर्ष तक उस पद पर रहे। अस्वस्थता के कारण विलायत लौट जाने पर वहाँ भी इन्होंने इन्हीं भाषाओं के पठन-पाठन में समय बिताया। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें स्वयं लिखीं, जिनमें हिंदुस्तानी व्याकरण, भाषा-विज्ञान, संज्ञा-विज्ञान, कोष आदि मुख्य हैं। इनके सिवा जॉन हर्बर्ट हैरिंगटन, कैप्टन लौकेट, डा० हंटर, प्रो० टेलर आदि ने भी इस कार्य में विशेष प्रयत्न किया था।

यह आगरा-निवासी गुजराती औदीच्य ब्राह्मण चैनसुख जी के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८२० वि० के लगभग हुआ था। यह जीविका की खोज में मुर्शिदाबाद पहुँचे और वहाँ लालूलाल नवाब के आश्रय में सात वर्ष रहे। इसके अनंतर यह कुछ दिन नाटौर रहे। सं० १८५७ में यह फोर्ट विलियम में अध्यापक हो गए, जहाँ सं० १८८१ तक रहे। यहीं इन्होंने सिंहासन बत्तीसी, बैतालपच्चीसी, शकुंतला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर लिखा। इनके सिवा लालचंद्रिका टीका, सभा-विलास-संग्रह आदि भी तैयार किए थे। इन्होंने एक प्रेस भी खोला था, जिसमें की प्रकाशित पुस्तकें अच्छे मूल्य पर विकती थीं। यद्यपि इन्होंने खड़ी बोली में लिखने ही का प्रयास किया है पर इनकी भाषा में ब्रज की बोली का पुट काफी है और वह कुछ तुकबंदी लिए हुए है।

यह आगरा-निवासी लक्ष्मण मिश्र के पौत्र तथा नंदमणि के सुत्र थे। इनका जन्म सं० १८३० वि० के लगभग हुआ था और मृत्यु सं० १९०५ में हुई थी। इन्होंने कई पुस्तकों सदल मिश्र का संस्कृत से हिंदी में अनुवाद किया था, पर केवल एक चंद्रावती ही प्राप्त है, जो नासिकेतो-पाल्यान का हिंदी रूपांतर है। यह भी प्रायः प्रेमसागर के साथ लिखी गई थी। इसमें ब्रज-भाषा का मेल कम है पर कुछ अवधी के रूप मिलते हैं। इसमें तुकबंदी नहीं है। लल्लूलाल जी से इनकी भाषा विशेष परिमार्जित है।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' का जन्म दिल्ली में सं० १८०३ के लगभग हुआ था और इनकी मृत्यु सं० १९०१ में हुई थी। यह कंपनी की अधीनता में चुनार में अच्छे पद पर कुछ दिन तक रहे और बाद को पैंसठ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आए। यहीं इन्होंने हरिभजन तथा साहित्य-सेवा करते हुए शेष आयु समाप्त कर दी। इन्होंने अपनी रचना मुंतखबुत्तवारीख में अपना वृत्तांत दिया है। इन्होंने कई विशद ग्रंथ तथा बहुत सी कविता लिखी हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवत का 'स्वांतः मुखाय' अनुवाद किया है, किसी की प्रेरणा से नहीं। इनकी भाषा तत्कालीन शिष्ट लोगों के बोलचाल की थी, जिसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग काफी हैं।

इंशा अल्लाह खाँ फारसी-उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। इनके पिता माशा अल्लाह दिल्ली से मुर्शिदाबाद गए, जहाँ इंशा का जन्म हुआ

था । वहाँ से इंशा दिल्ली आए पर विशेष प्राप्ति न होने पर यह लखनऊ चले आए और नवाब सआदतअली इंशा के आश्रित हो गए । इनका यहाँ अच्छा मान था और धन ऐश्वर्य भी खूब मिला था, पर हँसी-विनोद में इन्होंने कुछ ऐसी बात नवाब को कह दी कि वह इनसे ऐसा रुष्ट हुआ कि सब आय इनकी बंद हो गई और इनका अंत बड़े कष्ट से हुआ । इन्होंने भी 'रानी केतकी की कहानी या उदय-भान चरित' स्वांतः सुखाय लिखा था । इनकी भाषा ठेठ हिंदी है, जिसमें 'भाषापन, गँवारी तथा बाहर की बोली' नहीं आने पाई पर उर्दू-वाक्य-योजना तो अवश्य मिलती है ।

इस प्रकार एक साथ गद्य की प्रतिष्ठा करने में पूर्वोक्त चारों सज्जनों ने सहयोग दिया था, जिनमें किसी एक को प्रतिष्ठापक मान लेना अन्याय होगा । प्रत्येक के लेखनी उठाने का ठीक समय ज्ञात नहीं है, अतः किसी की लेखन-शैली को विशेष महत्व देकर उसे यह पद देना ठीक नहीं ।

जैसा लिखा जा चुका है वॉरेन हेस्टिंग्स, लार्ड वेलेजली आदि ने भारतीय प्राचीन तथा वर्तमान भाषाओं की उन्नति के लिए अवश्य प्रयत्न किया था पर भारतीयों की शिक्षा की ओर सन् १८१३ ई० के चार्टर में पहिली बार दृष्टि दी गई और लार्ड कैसेलरी तथा मि० ग्रांट के प्रस्ताव तथा समर्थन पर एक लाख रुपये वार्षिक इस कार्य के लिए अलग किए गए । इसी के साथ मिशनरियों को भारत में आने का पूर्ण अधिकार मिल गया । इन

पादड़ियों को ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में धर्म-प्रचार तथा अंग्रेजी शिक्षा न देने को वाध्य किया। लार्ड मिंटो ने इन लोगों की पुस्तकों को भारतीय धर्मों के विरुद्ध बतलाकर उनके इस कार्य में रुकावट डाली और इन सब को श्रीरामपुर छोड़कर कलकत्ते चले जाना पड़ा था। ये जो कुछ छापते थे, उसे सरकार को दिखलाकर आज्ञा लेनी पड़ती थी। इस नए चार्टर से इन लोगों को बहुत सुविधा हो गई। खड़ी बोली हिंदी के प्रचार में इन पादड़ियों ने वास्तव में बहुत हाथ बँटाया है।

सन् १८३३ ई० में कंपनी का चार्टर बदल गया। अब तक अनेक स्थानों में संस्कृत कॉलेज खुल गए थे पर समग्र ब्रिटिश राज्य के लिए कैसी शिक्षा-प्रणाली होनी चाहिए, शिक्षा-प्रचार यह निश्चय नहीं हुआ था। इसी चार्टर के साथ एक लॉ कमीशन नियत हुआ था, जिसके प्रधान लार्ड मेकौले थे। इन्होंने एक लंबी रिपोर्ट लिखकर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही निश्चित कराया। उसी समय से संस्कृत तथा अरबी के लिए जो व्यय किया जाता था, वह क्रमशः कमकर अंग्रेजी शिक्षा में लगाया जाने लगा। इसके बाद सन् १८५४ ई० में जब अंतिम चार्टर बदला गया, उस समय शिक्षा के लिए तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (भारत सचिव) सर चार्ल्स वुड (लार्ड हैलिफैक्स) ने शिक्षा की एक वृहत स्कीम भेजी, जिसमें बर्नाक्यूलर स्कूल, सहायता-प्राप्त स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों आदि के स्थापित करने का पूरा आयोजन था।

पूर्वोक्त हेरफेर से यह बात स्पष्टतः लक्षित हो रही है कि भारत सरकार द्वारा खड़ी बोली हिंदी को बराबर प्रोत्साहन मिलता चला गया। पादड़ियों ने जनसाधारण की शुद्ध बोली ग्रहण किया और उसी में अपनी पुस्तकों का अनुवाद कर अपना धर्म प्रचार करने लगे। इधर शिक्षा में संस्कृत अरबी व्यवहार योग्य नहीं समझी गई और उनके स्थान पर वर्नाक्यूलर्स अर्थात् प्रांतीय बोलियाँ काम में लाई गईं। भारत सरकार ने मुगल-राज्य-काल की अदालती भाषा फारसी का स्थानापन्न उर्दू को बनाया पर उसके काठिन्य को समझकर अदालत के बाहर शिक्षा के लिए आज तक बोधगम्य हिंदुस्तानी बनाने का प्रयत्न करती जा रही है।

विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरंभ में खड़ी बोली हिंदी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई थी, उसकी परंपरा पूर्ण रूपेण नहीं चली और वह प्रायः पच्चीस वर्ष तक बीसवीं ईसाई प्रयास शताब्दी के आरंभ की अपेक्षा करती रही। यद्यपि सन् १८२६ तथा १८२६ ई० में उदंत मार्तंड तथा बंगदूत नामक दो हिंदी-पत्र निकले थे पर वे भी क्षणिक प्रयास मात्र थे। गद्य की इस प्रतिष्ठा से ईसाई धर्मोपचारकों ने अवश्य बहुत लाभ उठाया। इन्हें जनसाधारण की बोली में अपने ग्रंथ लिखने पड़े, क्योंकि वे उन्हीं के पढ़ने समझने के लिए थे। डा० विलियम कैरे ने पहिले माल्दा में एक गिरजाघर खोलकर ग्रामों में उपदेश देना शुरू किया पर कंपनी की आज्ञा से इन्हें वहाँ से हट जाना पड़ा। कुछ अन्य साथियों के साथ सन् १७६६ ई०

में यह श्रीरामपुर चले गए और वहीं मिशन स्थापित कर बाइबिल का इन्होंने पहिले बंगला में अनुवाद किया। इसके बाद उसका भारत की छब्बीस अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ। हिंदी का अनुवाद सन् १८१८ ई० तक पूरा छप चुका था। कैरे ने स्वयं कई पुस्तकें कोष आदि लिखा तथा रामायण का संपादन किया था। इसके उत्साह से अनेक स्थानों पर मिशन स्थापित हुए। इन पादड़ियों ने जिस हिंदी को अपनाया है वह शुद्ध हिंदी है, उर्दू-मिश्रित हिंदुस्तानी नहीं। उसमें ब्रज-भाषा की क्रियाओं आदि के रूप भी मिलते हैं। सिरामपुर प्रेस भी खुल गया और धड़ाधड़ ईसाई पुस्तकें छप-छपकर जनता में बिना मूल्य वितरित होने लगीं। इन मिशनरियों के प्रयत्न से मिशन-प्रेस तथा स्कूल स्थान-स्थान पर खुलने लगे और धार्मिक तथा शिक्षा-संबंधी पुस्तकें हिंदी में निकलने लगीं। काशी का सबसे प्राचीन जयनारायण स्कूल सन् १८१८ ई० में स्थापित हुआ और कलकत्ते की सोसाइटी को सौंपा गया था। शिक्षा-विषयक पुस्तकों के हिंदी-लेखकों में रतनलाल, ओंकार भट्ट, बद्रीलाल शर्मा आदि के नाम मिलते हैं। पत्र भी कुछ निकलने लगे थे, जिनका वृत्तांत अलग लिखा जायगा।

विक्रमी बीसवीं शताब्दी के साथ भारत-नक्षत्र राजा शिव-प्रसाद का उदय हुआ। इनके प्रयत्न से सं० १९०२ में 'बनारस

आधुनिक हिंदी

का विकास

अखबार' काशी से निकलने लगा, जिसकी भाषा नागरी लिपि में उर्दू होती थी। उस समय के पढ़े-लिखे लोगों में उर्दू-फारसी का रिवाज अधिक तथा

हिंदी का बहुत कम था। संस्कृत के पंडितों को अखबार से कुछ मतलब ही नहीं था। हाँ, कहीं-कहीं दो-चार शब्द हिंदी के भी शपथ लेने को रख दिए जाते थे। सं० १६१३ वि० में राजा साहब स्कूलों के इंस्पेक्टर हुए और शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का प्राबल्य तथा हिंदी का उनका विरोध देखकर इन्होंने हिंदी का पक्ष लिया। हिंदी पाठ्य-पुस्तकों की कमी को स्वतः पुस्तकें लिख कर तथा पं० बंशीधर, पं० श्रीलाल आदि से लिखवाकर पूरी की। पहिले यह शुद्ध हिंदी ही के पक्षपाती थे पर बाद को शिक्षा-विभाग के उर्दू-ज्ञाता सदस्यों के जोर देने पर उर्दू-मिश्रित हिंदुस्तानी की ओर झुक पड़े। इस प्रकार राजा शिवप्रसाद 'आमफहम' हिंदुस्तानी के हामी हुए। प्रायः इसी समय राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिंदी में 'प्रजाहितैषी' पत्र निकाला तथा सं० १६१८ वि० में हिंदुस्तानी का अनुवाद किया। इन्होंने शुद्ध संस्कृत-मिश्रित हिंदी का पक्ष लिया और इस मत का रघुवंश के अनुवाद के प्राक्थन में समर्थन भी किया है। पंजाब प्रांत में बाबू नवीनचंद्र राय ने स्कूलों में हिंदी के प्रचारार्थ बहुत सी पुस्तकें बंगला की सहायता से तैयार कीं और लिखवाईं। पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित कराईं और सबमें शुद्ध हिंदी रखी। पं० गौरीदत्त ने भी शुद्ध हिंदी में पुस्तकें लिखीं, जिनपर पश्चिमोत्तर प्रदेश के डाइरेक्टर ने पुरस्कार दिया था। इन्होंने नागरी-प्रचार में बहुत हाथ बँटाया था। स्वामी दयानंद ने भी हिंदी ही में उपदेश देकर तथा अपने ग्रंथ तैयार कर शुद्ध हिंदी का प्रचार किया। इसी प्रकार पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी के

व्याख्यान, कथा, उपदेश आदि शुद्ध हिंदी में होते थे। इनकी वाक्शक्ति इतनी आकर्षक थी कि उसका असर होता ही था। इन्होंने धर्म-संबंधी कई पुस्तकें लिखीं। इनका उस समय पंजाब में ऐसा प्रभाव था कि वे सनातनधर्म के स्तंभ समझे जाते थे। मृत्यु के समय इन्होंने कहा था कि 'भारत में भाषा के दो लेखक हैं—एक काशी में और दूसरा पंजाब में, परंतु आज एक ही रह जायगा।' काशी के लेखक से उनका अभिप्राय भारतेंदु जी से था।

अस्तु, पूर्वोक्त कुल बातों का तात्पर्य यही निकला कि उस समय हिंदी एक दोराहे पर खड़ी थी, जिनमें एक पर उसकी बहिर्न बंगला, गुजराती, मराठी आदि अप्रसर हो रही थीं और दूसरी वह थी जिस पर उसकी पुत्री उर्दू, जो अपनी माता हिंदी को अपनी पुत्री कहने का भी दावा कर बैठती थी, माता को छोड़ विदेशीय फारसी और अरबी के साथ आगे बढ़ रही थी। एक पर चलकर हिंदी अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए अपने कुटुंब का साथ रख सकती थी पर दूसरी पर चलकर वह केवल अपना अस्तित्व मिटा सकती थी। उर्दू = हिंदी + फारसी + अरबी और शुद्ध हिंदी = हिंदी + संस्कृत। पर यदि आमफहम करने के फेर में पड़ें तब तो शुद्ध हिंदी से संस्कृत को बहिष्कृत कर फारसी, अरबी का मेल करें अर्थात् शुद्ध हिंदी-संस्कृत + फारसी + अरबी = हिंदी + फारसी + अरबी = उर्दू हो जायगी। ठीक ऐसी ही परिस्थिति में भ्रम में पड़ी हिंदी को सन्मार्ग दिखलाने के लिए भारतेंदु जी का उदय हुआ था।



भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

भारतेंदु जी ने पूर्वोक्त सभी बातों को सामने रखकर हिंदी भाषा तथा साहित्य के संस्कार के लिए लेखनी उठाई और भाषा को अत्यंत परिमार्जित तथा मधुर रूप देते हुए उसके साहित्य में समयानुकूल नये विषयों की पुस्तकों का निर्माण कर उसको प्रगतिशील बनाया। यही कारण है कि हिंदी-प्रेमियों ने इन्हें वर्तमान हिंदी का जन्मदाता कहा है। इनकी भाषा में पुरानापन, उर्दूपन आदि नहीं रहने पाया और उसे बहुत ही संयत तथा स्वच्छ रूप मिला। यह भाषा-संस्कार केवल गद्य ही में नहीं हुआ था, प्रत्युत् कविता में भी हुआ था। नई सभ्यता के संघर्ष से शिक्षित संप्रदाय में जो नई विचार-धारा प्रवाहित हुई और जिनकी मानसिक बुभुक्षा हिंदी की प्राचीन चली आती हुई साहित्य-परंपरा से तृप्त नहीं हो रही थी, उनके उपयुक्त साहित्य की रचना हिंदी में तब तक नहीं हुई थी। भारतेंदु जी ने नए-नए विषयों पर रचना कर इस वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न किया और हिंदी-साहित्य के प्रवाह को मोड़कर जनता की नवीन विचार-धारा के साथ ला मिलाया।

भारतेंदु जी का जन्म भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १६०७ को हुआ था। यह केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में ६ जनवरी सन् १८८५

ई० को गोलोक सिधारे। इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत आदि की साधारण शिक्षा प्राप्त की थी। पिता भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र सुकवि बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास जी इन्हें नौ वर्ष का छोड़कर चल बसे और माता

पहिले ही मर चुकी थीं। अतः इनकी शिक्षा अधूरी से भी कम रह गई। जो कुछ था वह ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा मात्र थी। जब यह तेरह चौदह वर्ष के थे, तभी सपरिवार जगन्नाथ जी गए। मार्ग में अटकल से बंग-भाषा सीखी और बंग-साहित्य की नवीन प्रगति का परिचय प्राप्त किया। सं० १६२५ वि० में इन्होंने विद्या-सुंदर नाटक बंगला के आधार पर लिखा और कवि-वचन-सुधा पत्र निकाला। पाँच वर्ष बाद चौखंभा स्कूल खोला और 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नामक मासिक पत्र निकाला, जो आठ संख्या के बाद 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' नाम से प्रकाशित होने लगा। इसी चंद्रिका में

लिखा जा सकता पर नाटक, पत्र आदि शीर्षक अंशों में स्थान स्थान पर अन्यत्र कुछ लिखा गया है।

प्राचीन तथा नवीन हिंदी साहित्य के संघर्ष काल में ऐसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान साहित्यिक अपेक्षित था कि वह केवल

प्राचीनता की खिलियाँ न उड़ते हुए उसकी सार्थकता का नवीनता के साथ सामंजस्य करावे । ठीक ऐसे समय वैसे ही प्रतिभाशाली साहित्यिक के रूप में भारतेन्दु जी ने उदित होकर यह कार्य ऐसे सुचारु रूप से किया कि यह संघर्ष किसी को कष्टकर नहीं प्रतीत हुआ । कभी वे भक्ति तथा रीति काल के सुकवियों से होड़ लेते थे, तो कभी वे नव्यकाल के मिल्टन, शेक्सपियर आदि से प्रभावान्वित बंग कवियों की श्रेणी में जा बैठते थे । कभी राज-भक्तिपूर्ण पुष्पांजलि अर्पण करते थे, तो कभी देश के लिए आठ-आठ आँसू रोते थे । कभी टीकाधारी भंड साधुओं की हँसी लेते थे, तो कभी सच्चे भक्तों की माला पिरोते थे । यही कारण है कि इन गुणों से आकृष्ट होकर प्राचीन तथा नवीन दोनों विचार-धाराओं का एक अच्छा मंडल इनके चारों ओर घिर आया था, जिसने हिंदी के उन्नयन में इनका खूब हाथ बँटाया ।

भारतेन्दु जी की गद्य-शैली के विषय में इतना ही कहना अलम् है कि उनकी भाषा सुस्पष्ट होती थी, जटिल नहीं । वे वाक्-चातुरी में भाव को फँसाया नहीं चाहते थे । भावों के अनुसार भाषा में भेद अवश्य होता था । आवेश में प्रकृत्या छोटे-छोटे वाक्यों में जो बातें लिखी गई हैं, वही जब कुछ समझ समझ कर किसी स्थायी भाव के स्पष्ट करने को कही गई हैं तब वहाँ अधिक संयत भाषा कुछ बड़े वाक्यों में लिखी गई है । जहाँ विनोद तथा मनोरंजन की बातें हैं वहाँ भाषा में भी चपलता तथा चलतापन आ गया है । कहीं कहीं अधिक गंभीर विषय

संस्कृत-पदावली-युक्त भी हैं। तात्पर्य यह कि भारतेन्दु जी का भाषा पर पूरा अधिकार था और वह उनकी अनुवर्तिनी थी।

उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन) का जन्म सं० १६१२ वि० और मृत्यु सं० १६८० है। पंद्रह वर्ष की अवस्था तक

इन्होंने स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, जिसके बाद गृह

प्रेमघन पर ही पठन-पाठन का कुछ क्रम चलता रहा।

कविता की ओर यह क्रमशः मुके और सं०

१६२६ के लगभग भारतेन्दु जी से परिचय हो जाने पर मित्रता के साथ मातृभाषा-प्रेम की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इन्होंने कई सभाएँ स्थापित कीं। इनकी कविताएँ तथा लेख कवि-वचन-सुधा में प्रकाशित होने लगे। सं० १६३८ में 'आनंद-कदंबिनी' तथा सं० १६४६ में 'नागरी-नीरद' पत्रों को निकाला। भारत-सौभाग्य (पूर्ण), वारांगना रहस्य (अपूर्ण) तथा प्रयागरामागमन नाटक लिखा। इनके सिवा अनेक कविताएँ लिखीं जिनमें कितनी अभी तक प्रकाशित भी नहीं हुईं। प्रेमघन जी की गद्य-शैली क्लिष्ट तथा गंभीर होती थी और उसमें एक निराली छटा रहती थी। वे गद्य-लेखन को एक कला समझते थे। इनकी भाषा में अनुप्रास खूब रहता था और यह बड़े-बड़े वाक्यों में अपने भाव तथा विचार को इस प्रकार शब्दों के घटाटोप में छिपा देते थे कि पाठक को अर्थ समझने में दिमाग लड़ाना पड़ता था। इस पर भी वाक्य-विन्यास कहीं शिथिल नहीं होने पाता था। रंगीनमिजाजी के कारण भाषा में चुलबुलापन भी खूब है।

मिश्र जी का जन्म सं० १६१३ वि० में हुआ था । यह स्कूलों में शिक्षा पा रहे थे कि इनके पिता की मृत्यु हो गई, जिससे यह स्कूल छोड़कर घर का काम देखने लगे । कवि-प्रतापनारायण मिश्र वचन-सुधा के गद्य-पद्यमय लेख यह बड़े चाव से पढ़ते थे । लावनी बनानेवाले तथा अन्य कवियों के समागम से यह भी कवि हो गए और मातृ-भाषा की सेवा में लग गए । सं० १६४० में इन्होंने 'ब्राह्मण' पत्र निकाला, जिसमें विनोद की मात्रा अधिक रहती थी । सं० १६४६ में यह हिंदुस्तान के सहकारी संपादक हुए । इन्होंने प्रायः बीस पुस्तकें लिखी हैं तथा एक दर्जन के लगभग अनुवाद किए हैं । इनकी मृत्यु सं० १६५१ वि० में हुई थी । यह भारतेंदु जी के भक्त थे तथा उनको अपना आदर्श मानते थे । इनकी भाषा में चोज, मुहाविरों तथा कहावतों का बहुत प्रयोग रहता था, जिससे वह बड़ी मनोरंजक हो जाती थी । व्यंग्य भी आपके लेखों में अच्छा रहता था । इनकी भाषा में पूरबीपन का पुट बराबर मिलता है । गंभीर प्रबंधों में इन्होंने अधिक संयत भाषा का उपयोग किया है ।

यह दिल्ली-निवासी मारवाड़ी अग्रवाल वैश्य थे । इनका जन्म सं० १६०७ वि० में हुआ था और यह छत्तीस वर्ष की अवस्था ही में सं० १६४४ में परलोक सिधारे ।

श्रीनिवासदास यह अत्यंत व्यवहार तथा व्यापार-कुशल पुरुष थे और हिंदी, उर्दू, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी भाषा अच्छी तरह जानते थे । इन्होंने सर्व प्रथम एक प्रह्लाद-

नाटक लिखा था, जो बहुत साधारण कोटि का हुआ था। यहाँ तक कि यह उसे अपनी रचना कहने में संकोच करने लगे। इन्होंने अन्य तीन नाटक और एक उपन्यास लिखा है, जिनके नाम तप्तासंवरण, संयोगता-स्वयंवर, रणधीर-प्रेममोहिनी और परीक्षागुरु हैं। संयोगता-स्वयंवर की प्रेमघन जी ने तीव्र समालोचना की थी। इनकी भाषा इनके योग्य अर्थात् गंभीर, संयत तथा आडंबरहीन होती थी।

विजयराघवगढ़ के ठाकुर जगमोहनसिंह का जन्म सं० १६१४ वि० में हुआ था। यह शिक्षा पाने के लिए काशी आए और यहीं भारतेन्दु जी से इनकी मित्रता हुई। संस्कृत तथा जगमोहनसिंह अंग्रेजी के यह अच्छे ज्ञाता थे और हिंदी के सुकवि तथा मुलेखक थे। इसे परखने के लिए केवल इनका मेघदूत का अनुवाद तथा 'श्यामा-स्वप्न' का एक पारायण ही अलम् होगा। इनका प्रकृति-निरीक्षण तथा उसका वर्णन अपूर्व हुआ है। ग्राम्य-जीवन का जैसा विवरण इन्होंने दिया है वैसा उस समय तक हिंदी में कोई नहीं लिख सका था। इन्होंने ऋतु-संहार, कुमार-संभव आदि कई संस्कृत काव्यों का पद्यानुवाद किया है तथा श्यामा सरोजिनी, श्यामालता, सांख्य सूत्रों की टीका आदि कई पुस्तकें लिखीं। इनकी मृत्यु सं० १६५६ वि० में हुई।

भट्ट जी का जन्म सं० १६०१ वि० तथा मृत्यु सं० १६७१ है। इन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की और एक मिशन स्कूल में अध्यापक भी हो गए पर स्वतंत्र प्रकृति के होने के कारण

इनकी यहाँ नहीं निभी । सं० १९३३ में इन्होंने कुछ युवकों की सहायता से 'हिंदी प्रदीप' निकाला, जिसे यह बालकृष्ण भट्ट बहुत दिनों तक चलाते रहे । इन्होंने बहुत से छोटे छोटे लेख समाज, राजनीति आदि विषयों पर प्रकाशित किए । इनकी भाषा में भी व्यंग्य, मुहाविरा आदि की अच्छी छटा मिलती है । इन्होंने बहुत सी छोटी छोटी पुस्तकें भी लिखी हैं । काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्दसागर में भी इन्होंने कुछ सहयोग दिया था ।

भारतेंदु जी के हिंदी-हित-साधन में जिन अन्य महानुभावों ने हाथ बँटाया था, उनमें (१) तोताराम (२) गदाधरसिंह (३) केशवराम भट्ट (४) राधाचरण गोस्वामी (५) अंबिकादत्त व्यास (६) भीमसेन शर्मा (७) कार्तिकप्रसाद खत्री (८) पंड्या मोहनलाल विष्णुलाल (९) काशीनाथ खत्री आदि मुख्य हैं ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

गद्य-साहित्य का वर्तमान काल

भारतेंदु-काल तक हिंदी के साहित्य-निर्माण का कार्य अच्छी प्रकार आरंभ हो गया था और उसका प्रचार भी उत्तरी भारत में इतना हो गया था कि वह भारत की राष्ट्रभाषा बनने के योग्य मान ली गई थी। विक्रमीय बीसवीं शताब्दी के प्रायः आरंभ तक पुराने काल के लोगों में, अदब तहजीब के पुतलों में, उर्दू-फारसी की शिक्षा अनिवार्य मानी जाती थी और अदालत में उर्दू का बोलबाला था। इन कारणों से उर्दू की शिक्षा का प्रचार बहुत था। हिंदी तथा उर्दू साहित्य के इतिहासों के साथ साथ देखने से ज्ञात होगा कि फोर्ट विलियम से हिंदी तथा उर्दू दोनों को समान प्रोत्साहन मिला था पर इतने समय के बीच उर्दू में हिंदी से बहुत अधिक साहित्य की रचना हुई और उसमें प्रायः कई ऐसे विषयों पर अच्छी अच्छी रचना हो चुकी थी, जिन पर नाम को भी हिंदी में कुछ नहीं लिखा गया था। भारतेंदु जी ने स्वयं तथा उनके मंडल ने प्रचार कार्य में जो प्रयत्न किया था, उनसे हिंदी के विशेष रूप से प्रचार करने की अधिकाधिक आवश्यकता ज्ञात होने लगी।

भारतेंदु जी ने कई नगरों में घूम घूम कर 'निज भाषा उन्नति' पर व्याख्यान दिया था और पुस्तकें, पत्र आदि प्रकाशित

कर बिना मूल्य हिंदी-प्रेमियों में वितरित कर उनके हिंदी-प्रेम को विकसित किया था। हिंदी के लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहित करने का इन्होंने बहुत प्रकार से प्रयास किया था। इन सबका इनकी वृहत् जीवनियों में पूरा विवरण दिया गया है। पं० प्रताप नारायण मिश्र 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' अलापते फिरते थे और पं० गौरीदत्त जी सभी से 'जय नागरी की' कहते हुए दफ्तरों में नागरी-प्रचार के लिए मेमोरियल भेज रहे थे। देवाक्षर चरित प्रहसन आदि में उर्दू लिपि की गड़बड़ी भी दिखलाई जा रही थी। इस गड़बड़ी को लिखते हुए मुझे इस गड़बड़ी से हजारों सैनिकों सहित दिल्ली के एक युवराज के मारे जाने की याद आ गई, जिसको लिखे बगैर लेखनी आगे बढ़ी ही नहीं। अब्दुल्-कादिर बदायूनी सा कट्टर मुसलमान इतिहासकार अपने मुंतख-बुत्तवारीख में लिखता है कि गियासुद्दीन बल्बन का पुत्र युवराज मुहम्मद योग्य तथा वीर था और मुगल आक्रमणों को रोकने के लिए वह वृहत् सेना के साथ कुल पश्चिमी प्रांत का अधिनायक नियुक्त किया गया था। सन् १२८३ ई० में एतमार मुगल तीस सहस्र सेना के साथ भारत पर आक्रमण कर लाहौर पहुँचा। वहाँ के अध्यक्ष ने यह समाचार भेजकर मुहम्मद से सहायता माँगी, पर वह तीस (सी) को तीन (सेह) पढ़कर उसी के योग्य सेना लेकर आ पहुँचा और युद्ध में मारा गया। अमीर खुसरो भी इस युद्ध में कैद हुए थे।

प्रचार की इस आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए कुछ सज्जनों ने सं० १६५० वि० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा स्थापित की।

जिसका मुख्य उद्देश्य हिंदी का प्रचार तथा उसके साहित्य की समृद्धि थी। सं० १९५२ में सभा ने नागरी को जा० प्र० सभा, काशी अदालती भाषा से दूर न रखने के विषय में छोटे लाट के पास आवेदन-पत्र भेजा। कितने स्थानों पर डिपुटेशन भेजे गए और व्याख्यान, परचे आदि द्वारा हिंदी भाषा तथा अक्षरों की उपयोगिता दिखलाई गई। सं० १९५५ वि० में एक प्रभावशाली डिपुटेशन ने, जिसमें अयोध्या, मांडा तथा आवागढ़ के नरेशगण, डा० सुंदर लाल तथा पं० मदनमोहन मालवीय थे, लाट साहब से मिलकर उन्हें मेमोरियल अर्पित किया था। इसके लिए कई सज्जनों ने घूम घूम कर प्रांत भर में हस्ताक्षर एकत्र किए थे। मालवीय जी ने 'अदालती लिपि तथा प्राइमरी शिक्षा' नाम की एक पुस्तक अंग्रेजी में लिखकर प्रकाशित की। अंत में सं० १९५७ में कचहरियों में हिंदी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई। इस प्रचार-कार्य की ओर सभा अब तक अपनी दृष्टि बराबर रखती आ रही है।

साहित्य-समृद्धि के लिए भी सभा ने बहुत प्रयास किया है और कई पुस्तक मालाएँ निकाल कर प्राचीन काव्य-ग्रंथों के सुसंपादित संस्करण निकाले हैं तथा अनेक उपयोगी विषयों पर नए नए ग्रंथ निर्माण कराकर प्रकाशित किए हैं। प्राचीन अप्रकाशित तथा अप्राप्त ग्रंथों की खोज के लिए सभा ने भारतसरकार से सहायता माँगी और सं० १९५६ वि० से सहायता प्राप्त होने पर यह कार्य आरंभ हुआ। अब तक प्रायः चालीस वर्षों से यह कार्य सरकारी

सहायता से चल रहा है और इससे हजारों नए ग्रंथों, कवियों तथा ग्रंथकारों का पता चला है। खोज की रिपोर्टों में हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों को बहुत सामग्री मिलती है और उनका बराबर उपयोग भी हो रहा है। सभा ने सं० १९६३ वि० में वैज्ञानिक कोष तथा सं० १९८४ में हिंदी व्याकरण कई विद्वानों के सहयोग तथा परामर्श से निकाला। हिंदी शब्दसागर प्रकाशित कर उसने एक आवश्यक अंग की खासी पूर्ति कर दी। सभा की पत्रिका ने कई रूप धारण किए। आरंभ में वह त्रैमासिक थी और उसमें अच्छे तथा बड़े लेख निकलते रहे। बीच में वह मासिक हो गई थी और उस समय लेख कम रहते थे। वर्तमान त्रैमासिक संदर्भ में ऐतिहासिक अन्वेषण के लेख विशेष महत्वपूर्ण निकलते हैं। पूर्वोक्त कार्यों के सिवा सभा की तत्वावधानता में सं० १९५६ वि० में सरस्वती पत्रिका का आरंभ हुआ था और सं० १९६७ में अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का प्रतिष्ठापन हुआ था।

इस साहित्य-सम्मेलन का पहिला वार्षिक अधिवेशन काशी में हुआ और तब से आज तक यह सम्मेलन भी सभा के उद्देश्यों के अनुरूप प्रचार तथा साहित्य-समृद्धि में लगा हुआ है। प्रचार की ओर सम्मेलन ने बहुत कार्य किया है। हिंदी की शिक्षा देने का इसका प्रयास प्रशंसनीय है पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रयास अभी तक पूर्णरूपेण सुसंगठित नहीं हो सका है। साहित्य समृद्धि की ओर भी इसने बहुत कार्य किया है।

हिंदी-साहित्य-
सम्मेलन

इस प्रकार देखा जाता है कि पूर्वोक्त प्रयासों के फल स्वरूप अब हिंदी भाषा को अदालत में तथा शिक्षा-विभाग में उच्चतम कक्षाओं तक स्थान मिल गया है और वही केवल भारत की राष्ट्र-भाषा है, यह भी सर्वमान्य हो गया है।

उपन्यास और आख्यायिका

कहानी कहने और सुनने की प्रथा बहुत प्राचीन है। अव-स्थानुक्रम में बच्चे भी ज्योंही कुछ समझने योग्य हुए कि तोते मैंने चुनमुन की कहानी बूढ़ी, दादी आदि से विषय प्रवेश सुनने तथा हँकारी भरने लगते हैं। अधिक समझदार होने पर अकबर बीरबल के लतीफे, साधारण कहानियाँ पढ़ने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रौढ़ होने पर भी मनोरंजन के लिए उपन्यास, गल्प आदि की आवश्यकता पड़ती ही है। स्त्रियों के धार्मिक त्यौहारों पर भी रामचर्चा कथा कहानी होती है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के मनोरंजन का सामान्य मनुष्य मात्र के लिए खानपान आदि आवश्यकताओं से कम आवश्यक नहीं है और इनके पठन-पाठन का उनके हृदय पर गंभीर असर पड़ता है। यही कारण है कि उपन्यास तथा गल्प-लेखकों का उत्तरदायित्व धार्मिक-ग्रंथ-लेखकों से कम नहीं है। भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत में सबसे प्राचीन कहानियाँ पशुओं को लेकर रची गईं और इनमें उनके द्वारा उप-देश दिलाए गए हैं। पंचतंत्र इस प्रकार का प्रमुख ग्रंथ है। साथ-साथ देवी देवताओं की कथा का प्रचलन हुआ, जिनमें असुर

तथा दैत्य दानवों से उनके युद्ध तथा विजय दिखलाकर सत्य का असत्य पर, धर्म का अधर्म पर तथा न्याय का अत्याचार पर विजय होना निर्धारित किया गया है। इसके अनंतर संस्कृत में कादंबरी, वैताल-पंचविंशति, कथासरित्सागर आदि बहुत से मनोरंजक ग्रंथ तैयार हुए। मुसलमानों के आक्रमणों के बाद से तथा वर्तमान भारतीय भाषाओं के प्रचलन हो जाने से संस्कृत की रचना-परंपरा बंद सी हो गई। मुसलमानों के आगमन से फारसी अरबी की मनोरंजक कथा कहानियों का भी जनसाधारण में प्रचार हुआ। अलिफलैला, अमीरहमजा, हातिमताई, गुलबकावली आदि उर्दू से होकर हिंदी में आईं। इनमें जादू, तिलस्म, देव (दानव) आदि का खासा विवरण रहने लगा। इनमें सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक बातों की कहीं कहीं कुछ छाया मिल जाती है, नहीं तो वही सब असंभाव्य बातें कहकर पाठकों का मन आकर्षित कर लिया जाता था। उनका पाठकों के मस्तिष्क पर कोई अच्छा असर नहीं हो पाता था। इसके अनंतर यूरोपीय विचार संघर्ष आरंभ हुए एक शताब्दी होता है। इस बीच वहाँ के विशेषतः अंग्रेजी के, साहित्य का भारतीय भाषाओं पर पूरा असर पड़ा और इन साधारण रचनाओं के साथ गंभीर उपन्यास, आख्यायिका तथा गल्पों का प्रणयन भी आरंभ हो गया। यह असर हिंदी पर बंगला, मराठी तथा गुजराती से होते हुए आरंभ में अधिक आया था।

हिंदी में कहानी कहने का आरंभ भी कविता ही में हुआ

था । आख्यानक काव्यों का पहिले उल्लेख हो चुका है । इनमें कुछ साहित्य की उच्चकोटि में आ गए हैं पर हिंदी कहानियों का अधिकांश पद्यमय कहानियाँ ही हैं । ब्रज-भाषा आरंभ में इनके सिवा कुछ और भी इसी प्रकार की कहानियाँ गद्य तथा पद्य दोनों में लिखी गई हैं । इन्हीं की शृंखला में बाद को 'हीरांभा', 'गोपीचंद भरथरी', 'संगीत मोरध्वज' आदि प्रणीत हुए थे । जटमल ने सं० १६८० वि० में गौरा बादल की कथा कही थी । यह कथा एक ऐतिहासिक घटना की विवृति है । इसके अनंतर ईसवी उन्नीसवीं सदी के आरंभ होते ही एक साथ तीन सज्जन हिंदी-मातृ-मंदिर में कहानियाँ लेकर उपस्थित हुए—सदल मिश्र अपनी चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान, लल्लूलाल जी बैतालपचीसी, सिंहासन-बत्तीसी तथा माधोनल और इंशा रानी केतकी की कहानी या उदयभानु चरित । इस प्रकार एक साथ पाँच मनोरंजक ग्रंथों से मातृ-भाषा हिंदी के इस विभाग का आरंभ हुआ । इनमें एक मौलिक तथा चार संस्कृत से अनूदित हैं । इसके तीस चालीस वर्ष बाद की रचनाएँ हिंदी हातिमताई (सं० १६०८), शुक बहत्तरी (सं० १६१६), त्रिया चरित्र, किस्सा रमनशाह (सं० १६२२) आदि मिलते हैं, जो जनसाधारण की रुचि के अनुकूल हैं । पहिली हिंदी लिपि में उर्दू है और दूसरी की भाषा कुछ परिमार्जित है । इसी समय तोता कहानी, अमीरहमज्रा, सहस्ररजनी चरित्र (अलिफ्लैला) आदि का भी उर्दू से हिंदी रूपांतर हुआ ।

तात्पर्य यह कि कुछ कहानियाँ भारतेंदु जी के समय तक लिखी जा चुकी थीं ।

भारतेंदु जी के पिता बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास जी ने हितोपदेश का पद्यमय अनुवाद किया था । भारतेंदु जी का

ध्यान हिंदी साहित्य के इस विभाग की कमी की

भारतेंदु-काल ओर भी आकृष्ट हुआ था, पर वे इसको अधिक

समय नहीं दे सके । इन्होंने मदालसोपाख्यान

लिखा तथा राजसिंह का अपूर्ण अनुवाद किया । यद्यपि यह स्वयं

इस ओर विशेष कुछ न कर सके पर इनके प्रोत्साहन से इनके

मित्रवर्ग में कई सुलेखकों ने इस कमी की पूर्ति का बीड़ा उठाया

था । लाला श्रीनिवासदास ने प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा-

:गुरु' लिखा, जिसकी दूसरी आवृत्ति सं० १६४१ वि० में हुई थी ।

यह पुस्तक उपदेशमय तथा व्यवहार-कुशल लेखक के अनुरूप है ।

इसके अनंतर बा० राधाकृष्णदास का निस्सहाय हिंदू, पं० बाल-

कृष्ण भट्ट के नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान और एक सुजान

और पं० गौरीदत्त की तीन देवों की कहानी तथा देवरानी जेठानी

मौलिक छोटी-छोटी रचनाएँ हैं । पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने भी सं०

१६३४ में भाग्यवती नामक मौलिक उपन्यास लिखा । भारतेंदु जी

के समय ही में बंगला से अनुवाद करना आरंभ हो चुका था,

जो बाद को बहुत बढ़ा । ठा० गदाधरसिंह ने सन् १८६४ ई० में

शेक्सपियर के उथेलो की कहानी लिखी । संस्कृत कादंबरी का

छायानुवाद पहिले प्रकाशित कराया और उसके अनंतर बंगविजेता

(सन् १८८६ ई०) तथा दुर्गेशनंदिनी (१८८२ ई०) का बंगला से अनुवाद किया । बाबू राधाकृष्णदास ने स्वर्णलता, मरता क्या न करता आदि उपन्यास अनूदित किए । मल्लिका ने राधारानी (१८८३ ई०) तथा सौंदर्यमयी का अनुवाद किया । पं० प्रताप-नारायण मिश्र ने राजसिंह, इंदिरा, युगलांगुलीय और कपालकुंडला (सन् १९०१ ई०) का तथा गोस्वामी राधाचरण जी ने अमरसिंह राठौर (१८९५ ई०), विरजा, जावित्री (१८८८ ई०) तथा मृण्मयी के अनुवाद प्रकाशित कराए । बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने ईला, प्रमीला, जया, दलित कुसुम, दीनानाथ, मधुमालती आदि कई उपन्यासों के अनुवाद सं० १९४५-६० वि० के बीच निकाले । बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अमला-वृत्तांतमाला (सं० १९५१), ठग-वृत्तांतमाला (१८८६ ई०), कानिस्टिबिल वृत्तांतमाला, पुलिस वृत्तांतमाला (१८९० ई०), अकबर (सन् १८९१ ई०), तथा चित्तौर चातिकिनी उपन्यासों के उर्दू, अंग्रेजी तथा बंगला से अनुवाद कर अपने ही भारतजीवन प्रेस में प्रकाशित किए । इन्होंने उस समय अपने प्रेस से हिंदी की बहुत सेवा की और सैकड़ों नाटक, उपन्यास, पुराने काव्य ग्रंथ आदि प्रकाशित किए थे । आज भी यह प्रेस उसी प्रकार इस सेवा में दत्तचित है ।

भारतेंदु-काल तथा उसके बाद के जिन उपन्यासकारों तथा उपन्यास-अनुवादकों का अब तक उल्लेख हुआ है, उनकी भाषा उसी काल की विशेषता लिए हुए है । 'आमफहम' उर्दू शब्दों का जिस प्रकार एक ओर बहिष्कार सा है, उसी प्रकार दूसरी ओर

संस्कृत की शब्दावली से वह लदी नहीं है। साधारण सहज शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है। बंगला भाषा तथा हिंदी पर इन अनुवादकों का इतना अधिकार था कि वे बंगला मुहाविरों तथा शब्दों को ठीक ठीक समझकर उनका हिंदी में ठीक पर्याय देते थे। बाद के अनुवादकों में ऐसी पटुता की कमी है।

पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने उपन्यास क्षेत्र में भी पहिले पहिल कुछ कार्य किया था। इन्होंने वेनिस का बाँका तथा रिपवान विंकल का उर्दू से अनुवाद किया और ठेठ हिंदी का ठाट (सं० १६५६) तथा अधखिला फूल (सं० १६६४) दो उपन्यास लिखे। इनके सिवा बंगला से कृष्णकांत का दान-पत्र तथा फारसी के गुलज़ारे दबिस्ताँ का विनोदबाटिका नाम से अनुवाद किया। पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र ने अनारकली, देवी तथा पानीपत उपन्यास लिखें। लज्जाराम जी मेहता ने भी पाँच छ उपन्यास लिखे हैं, जिनमें आदर्श हिंदू, आदर्श दंपति, धूर्त रसिक-लाल आदि मुख्य हैं। बाबू उद्दिननाथगणालाल ने दीपनिर्वाण (सन् १८८६) तथा जीवन संध्या का बंगला से अनुवाद किया। ये दोनों ऐतिहासिक हैं। सं० १६५१ वि० में गोकुलनाथ शर्मा ने पुष्पवती नामक उपन्यास लिखा था। हास्याचार्य पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी ने बसंतमालती (१८६६ ई०) तथा तूफान (सं० १६५६) अनूदित किए। बाबू ब्रजनंदनसहाय ने अद्भुत प्रायश्चित (१६०२ ई०) तथा चंद्रशेखर (१६०३ ई०) का अनुवाद किया और मौंदर्योपासक, राधाकांत तथा लालचीन मौलिक उपन्यास लिखे।

बाबू गोपालराम गहमरी ने जी बीसवीं विक्रमीय शताब्दी के आरंभ के पहिले ही से उपन्यासों के अनुवाद निकालना आरंभ कर दिया था, जिनमें कुछ तो गार्हस्थ्य उपन्यास थे पर बाकी विशेषतः जासूसी ही थे। इन्होंने चलती सरल भाषा का प्रयोग किया है और उसमें हँसी विनोद का भी पुट दिया है। इसी ढंग के उपन्यासों के लिखने में बा० रामलाल वर्मा, जैनेन्द्रकिशोर आदि ने भी बहुत परिश्रम किया है। अंग्रेजी के प्रमुख उपन्यासकार रेनॉल्ड की कई कृतियों का बा० गंगाप्रसाद गुप्त ने अनुवाद किया है। परंतु इस प्रकार के उपन्यासों के अनुवाद का समय अब बीत चला था और देशीय सामाजिक उपन्यासों की माँग बढ़ रही थी। इसलिए बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित होने लगा, जिससे हिंदी में भी उस कोटि के मौलिक उपन्यास लिखने का प्रयास आरंभ हुआ। ऐसे अनुवादकों में पं० रूपनारायण पांडेय, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है। साथ ही मराठी तथा गुजराती उपन्यासों के भी अनुवाद प्रकाशित होने लगे।

बीसवीं विक्रमीय शताब्दी के साथ गल्प, छोटी आख्यायिका आदि लिखने की प्रथा निकली, जिनमें ऐतिहासिक तथा अधिकतर सामाजिक घटनाओं का चित्रण रहता था। सरस्वती पत्रिका में लाला पार्वतीनंदन ने इस प्रकार के गल्पों का आरंभ किया और अब ऐसे गल्प अधिक लिखे जाने लगे हैं।

हिंदी में उर्दू के तिलस्म होशरुबा के ढंग के उपन्यासलिखने का

आरंभ बाबू देवकीनंदन खत्री ने किया। नरेंद्रमोहनी (सं० १६५०), काजर की कोठरी, कुसुमकुमारी, नौलखाहार, गुप्तगोदना आदि उपन्यासों के सिवा इन्होंने चंद्रकांता तथा चंद्रकांता-संतति लिखा है। इन सबमें तिलस्म तथा गेयारी का जोर है। इनमें घटना-वैचित्र्य मात्र है, भावव्यंजना नहीं है पर चरित्र-चित्रण अवश्य कुछ हुआ है। इस कोटि के अन्य उपन्यासकारों में बाबू हरिकृष्ण जौहर प्रमुख हैं। कुसुमलता, कमलकुमारी, नरपिशाच, जादूगर, निराला नकाबपोश, सूर्यकांता आदि उस समय के प्रचलित उपन्यास हैं। किसी मदनमोहन पाठक की आनंद मुंदरी में तिलस्म का अच्छा जौहर है।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी का हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों में ऊँचा स्थान है। इन्होंने पचासों उपन्यास लिखकर हिंदी पाठकों का बराबर मनोरंजन किया है। इनमें सामाजिक चित्रण बड़ी सजीवता के साथ प्रदर्शित किए गए हैं। गोस्वामी जी हिंदी के कवि, साहित्य मर्मज्ञ तथा सुलेखक और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे पर हिंदी साहित्य के इतिहास में यह उपन्यासकार के रूप ही में प्रतिष्ठित हैं। किसी-किसी उपन्यास में इन्होंने संस्कृत शब्दों की भरमार कर दी है, तो किसी में उर्दू की बहार दिखलाई है। किसी-किसी में अश्लीलता भी आ गई है। इनके उपन्यासों में चपला, चंद्रिका, तारा, तरुण-तपस्विनी, प्रणयिनी-परिणय आदि मुख्य हैं। इसी ढंग के उपन्यास-लेखकों में बाबू जयरामदास हैं, जिन्होंने किशोरी, कनकलता, चंपा, जहर का प्याला आदि बीसों उपन्यास लिख डाले हैं।

बाबू प्रेमचंद जी का हिंदी में पहिला उपन्यास 'प्रेमा' सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ था पर वे उर्दू ही में बाद को कुछ दिन तक लिखते रहे। इनकी बहुत सी गल्पें तथा लेख 'जमाना' आदि उर्दू पत्रों में प्रकाशित होते रहे थे। हिंदी में सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प आदि उच्च कोटि के उपन्यास लिखकर इन्होंने इसके साहित्येतिहास में अपना स्थान निर्दिष्ट कर दिया है। इन बड़े उपन्यासों के सिवा इन्होंने सैकड़ों गल्पें लिखी हैं, जिनके अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ये गल्प बड़े ही सुंदर बन पड़े हैं, जिनमें मानव-हृदय का अच्छा विश्लेषण हुआ है। अन्य गल्प-लेखकों में पं० विश्वंभरनाथ कौशिक, सुदर्शन आदि मुख्य हैं। बाबू जयशंकरप्रसाद जी ने उपन्यास तथा गल्प-लेखकों में भी काफी प्रसिद्धि प्राप्त की है पर आपका क्षेत्र दृश्य तथा श्रव्य काव्य ही है।

केवल उपन्यास तथा कहानी के पत्र भी हिंदी में कई निकले और उनमें से कई अब तक जारी हैं। सबसे पहिले गोपालराम जी का जासूस सन् १९०० में निकला, जो अब तक चल रहा है। सन् १९०१ ई० में 'मित्र' पत्रिका निकली, जो कुछ दिन चलकर बंद हो गई। बा० देवकीनंदन खत्री ने सन् १९०२ ई० में उपन्यास लहरी, पं० विश्वोरीलाल गोस्वामी ने मासिक उपन्यास, बाबू हरिकृष्ण जौहर ने मोहिनी, बाबू अमृतलाल ने उपन्यास-कुसुम, बाबू जयरामदास ने उपन्यास बहार, बाबू विश्वेश्वरप्रसाद ने उपन्यास दर्पण, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने दारोगादफ्तर निकाला था।

तथा बिजनौर से उपन्यास माला (१ जून १९११ ई०) प्रकाशित होती थी पर ये सब अब बंद हैं । बा० अंबिकाप्रसाद की १९०० ई० की हिंदी गल्प माला भी दो तीन वर्ष हुए बंद हो गई । हंसमुख्यतः कहानी-उपन्यास की पत्रिका है, जो खूब सज-धज से निकलती है । गल्प तो अब प्रायः सभी पत्रिकाओं का एक आवश्यक अंग हो गया है और इसका स्थान सभी में 'रिजर्वड्' रहता है ।

नाटक

भारतीय नाटकों के इतिहास में देखा जाता है कि संस्कृत नाटकों की रचना का सिलसिला मुसलमानी आक्रमणों के आरंभ होने पर प्रायः बंद सा हो गया । यद्यपि मुगल राजत्व-काल के रचित कुछ नाटक मिलते हैं और प्रायः वर्तमान काल में कुछ अच्छे नाटक लिखे भी गए हैं पर वास्तव में वह शृंखला बंद ही सी है । नाटकों के लिए बोलचाल ही की भाषा अधिक उपयुक्त होती है और यही कारण है कि यह नाटक-शृंखला संस्कृत से ब्रज-भाषा, अवधी आदि में होती हुई वर्तमान खड़ी बोली तक नहीं चली आई है । बीच के काल में परंपरा की काव्यभाषा ही का जोर अधिक था और अच्छे साहित्यसेवी खड़ी बोली की ओर मुके नहीं थे, इसी से नाटकों की रचना नहीं हो सकी ।

सं० १६८० वि० में संस्कृत हनुमन्नाटक का भाषानुवाद कृष्णदास के पुत्र हृदयराम ने समाप्त किया था । हिंदी में नाटक

शब्द-संयुक्त यही पुस्तक सबसे प्राचीन ज्ञात होती है । इसके अनंतर सुकवि नेवाज कृत शकुंतला

ब्रज-भाषा नाटक

नाटक मिलता है, जो फर्रुखसियर के समय में सं० १७८० वि० के लगभग तैयार हुआ था। इसके अनंतर किसी देव कृत देवमायाप्रपंच नाटक बना। सं० १८१६ वि० में ब्रजवासीदास ने प्रबोध-चंद्रोदय नाटक का भाषानुवाद किया। ये सब केवल इसीलिए नाटक कहे जाते हैं कि इनके नाम के साथ नाटक शब्द जुड़ा हुआ है। वास्तव में ये काव्य ही हैं। वेदांत-विषयक भाषा ग्रंथ समयसार नामक एक इसी कोटि के नाटक का भारतेंदु जी ने उल्लेख किया है। रीवा-नरेश महाराज विश्वनाथ-सिंह कृत आनंदरघुनंदन नाटक, काशिराज की आज्ञा से उसी राजवंश के आश्रित गणेश कवि कृत प्रद्युम्न-विजय नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं, पर ये भी छंद मय ग्रंथ हैं। भारतेंदु जी के पिता महाकवि गिरिधरदास जी कृत नहुष नाटक का जो प्रथमांक प्राप्त है, उसको देखने से ज्ञात होता है कि यह नाट्य-कला की सम्यक् रीति से बना है तथा गद्य-पद्य मिश्रित है। संस्कृत नाटकों की प्रथा पर इसमें भी कविता की प्रचुरता है और यह नाट्य-कला ही में लिखा हुआ है। इस कारण यह खड़ी बोली हिंदी का प्रथम नाटक नहीं कहला सकता। इसके बाद ब्रज-भाषा में नाटक नहीं लिखे गए और खड़ी बोली ही को इसके लिए उपयुक्त समझा गया। हाँ, नाटकों में जो कविता दी जाती थी, उसके लिए ब्रज-भाषा का प्रयोग कुछ दिनों तक होता रहा था।

राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला का गद्यानुवाद सन् १८६३ ई० में पहिली बार छपा, जिसके प्रायः पच्चीस वर्ष बाद उसका

गद्य-पद्य-भय संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ था । यह अनुवाद

बहुत ही सुंदर बन पड़ा है । इसके अनंतर भारतेंदु

भारतेंदु जी जी के नाटकों ही से खड़ी बोली हिंदी में नाटक-
रचना का आरंभ होता है । इन्होंने मौलिक

नाटकों के सिवा कई नाटकों का अनुवाद भी किया था और कुछ

दूसरे नाटकों के आधार पर लिखे थे । चंद्रावली, अंधेर-नगरी,

प्रेमयोगिनी (अधूरा), विषम्य विषमौषधम्, वैदिकी हिंसा हिंसा

न भवति, भारतदुर्दशा, नीलदेवी और सतीप्रताप (अपूर्ण) इनके

मौलिक नाटक हैं । विद्यासुंदर तथा सत्यहरिश्चंद्र अनुवाद नहीं

हैं पर वे अन्य नाटकों के आधार पर लिखे गए हैं । मुद्राराक्षस,

कर्पूर-मंजरी, धनंजयविजय तथा पाखंड-विडंबन अनूदित नाटक

हैं । ये सभी नाटक भाषा, भाव, नाट्यकला आदि सभी दृष्टि से

अच्छे बन पड़े हैं । इनमें कई सफलतापूर्वक खेले भी जा चुके हैं ।

भारत-जननी और दुर्लभबंधु दो अनूदित नाटक इनके और हैं ।

भारतेंदु जी की इस नाटक-रचना में उनके कई मित्रों तथा

समकालीन सज्जनों ने सहयोग किया है । लाला श्रीनिवासदास

ने प्रह्लाद, रणधीर-प्रेममोहिनी, संयोगिता-स्वयंवर

समकालीन नाटक- तथा तप्तासंवरण; पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेम-

कार घन' ने भारतसौभाग्य, वारांगना-रहस्य, प्रयाग-

रामागमन तथा सुंदर-विलाप; पं० मथुराप्रसाद

चौधरी ने साहसेंद्र-साहस (मैकबेथ का अनुवाद); पं० प्रताप

नारायण मिश्र ने कलिकौतुक रूपक, कलिप्रभाव, हठी-हमीर तथा

जुवारी खुवारी; राव कृष्णदेवशरणसिंह 'गोप' ने माधुरी; बाबू तोताराम ने केटोकृतांत; पं० केशवराम भट्ट ने उर्दू मिश्रित शमशाद सौसन तथा सज्जाद सुंबुल; पं० अंबिकादत्त व्यास ने ललिता नाटिका, गोसंकट, देवपुरुष-दृश्य, मरहट्टा तथा भारत सौभाग्य; अमानसिंह गोटिया ने मदनमंजरी और बाबू राधाकृष्णदास ने दुःखिनीबाला, पद्मावती तथा प्रताप नाटक लिखे । पं० बालकृष्ण भट्ट ने पद्मावती, शर्मिष्ठा तथा चंद्रसेन लिखा । पं० देवकीनंदन त्रिपाठी ने जय नारसिंह की, होली खगेश, चक्षुदान, कलियुगी विवाह, कलियुगी जनेऊ आदि प्रहसन लिखे । शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने जानकीमंगल तथा बाबू बालेश्वरप्रसाद ने वेनिस का सौदागर लिखा ।

भारतेंदु जी की मृत्यु पर यह नाटक-रचना की परंपरा कुछ रुक-रुक कर चलती रही । बंगला से अनुवाद करने की प्रथा निकली । बाबू रामकृष्ण वर्मा ने कृष्णकुमारी, पद्मावती तथा वीरनारी नाटकों का, बाबू उदितनारायणलाल वकील ने सती नाटक तथा अश्रुमती का और पं० ब्रजनाथ ने एई की सभ्यता का अनुवाद प्रकाशित कराया । पं० रविदत्त शुक्ल ने देवाक्षर चरित, पं० कमला चरण मिश्र ने अद्भुत नाटक, कामभस्म नाटक आदि, देवीप्रसाद शर्मा ने बालविवाह, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने रुक्मिणी-परिणय नाटक, बाबू ठाकुर दयालसिंह ने मृच्छकटिक तथा मर्चेड ऑव वेनिस के अनुवाद किए । मझौली-नरेश खड्ग-बहादुर मल्ल ने रसकुसुमायुध, कल्पवृक्ष, महारास, भारत आरत,

भारत ललना तथा हरितालिका नाटक लिखा था । पं० गदाधर भट्ट मालवीय ने मृच्छकटिक तथा वेणीसंहार का अनुवाद किया । इन्होंने मुद्राराक्षस का भी अनुवाद किया था पर भारतेन्दु जी के अनुवाद को सुनकर उसे यह कह कर प्रकाशित नहीं कराया कि अब इसकी आवश्यकता नहीं है । पं० राधाचरण गोस्वामी ने सती चंद्रावली तथा श्रीदामा छोटे छोटे नाटक लिखे । पं० दामोदर शास्त्री ने रामलीला सातोकांड, बालखेल या ध्रुव-चरित, राधामाधव तथा वेणीसंहार लिखे । बाबू कार्तिकप्रसाद ने ऊषाहरण नाटक लिखा था । बाबू गोपालराम गहमरी ने वभ्रु-वाहन, देशदशा, विद्या विनोद और चित्रांगदा का अनुवाद प्रकाशित किया । पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने चौपट चपेट, नाट्य संभव, वर्षा की बहार तथा मयंकमंजरी महानाटक लिख डाला । पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद प्रेमलीला, वेनिस का व्यापारी और मनभावन नाम से छपवाया । किसी 'आर्या' नाम्नी लेखिका ने भी मर्चेन्ट ऑव वेनिस का अनुवाद किया था । सन् १६०० ई० के पहिले ही से लाला सीताराम बी० ए० 'भूप' ने संस्कृत के नाटकों तथा काव्यों के अनुवाद में हाथ लगा दिया था और नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, गालगी-भाषात्र, मालविकाग्नि-मित्र आदि के अनुवाद किए हैं । राय देवीप्रसाद पूर्ण का चंद्रकला-भानुकुमार मौलिक नाटक है पर अभिनय की दृष्टि से बहुत बड़ा है ।

बीसवीं शताब्दी के साथ साथ द्विजेंद्रलाल राय के बंगभाषा नाटकों का अनुवाद होना आरंभ हुआ है, जिससे केवल गद्य-मय नाटक लिखने की प्रथा चल निकली। पद्य के लिए दो-चार गाने इतस्ततः दे दिए जाते थे। सामाजिक चित्रण अधिक होने लगा। बाबू रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटक भी अनूदित हुए। बाबू गिरीशचंद्र घोष, क्षीरोद बाबू, बाबू शिशिरकुमार घोष आदि अन्य प्रसिद्ध नाटककारों के भी कुछ नाटकों का अनुवाद हुए। ऐसे अनुवादकों में पं० रूपनारायण पांडेय का नाम उल्लेखनीय है। सं० १९७० वि० में उत्तर रामचरित का अनुवाद पं० सत्यनारायण कविरत्न ने प्रकाशित कराया और इसके तीन वर्ष बाद बाबू कृष्णचंद्र का भी इसी का अनुवाद प्रकाशित हुआ। कविरत्नजी का मालतीमाधव का अनुवाद भी इसी समय निकला। ये अनुवाद बहुत अच्छे हुए हैं। सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटककार भास के तेरह नाटक हाल ही में प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एकाध के कई अनुवाद निकल चुके हैं। बाबू ब्रजजीवनदास इन समग्र नाटकों का गद्य-पद्यमय अनुवाद कर रहे हैं, जिनमें तीन पंचरात्रि, मध्यम व्यायोग तथा प्रतिज्ञा यौगंधरायण के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

वर्तमान मौलिक नाटककारों में बाबू जयशंकरप्रसाद जी का नाम पहिले लिया जाता है। अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटक उल्लेखनीय हैं। इनमें तत्कालीन समाज के चित्र देने का अच्छा प्रयास है। इन नाटकों की भाषा कुछ

अभिनय

अधिक गंभीर तथा क्लिष्ट हो गई है। पं० गोविंदवल्लभपंत की वरमाला, पं० बद्रीनाथ भट्ट की दुर्गावती आदि अच्छे नाटक हैं। साहित्यकारों की हिंदी नाटकों की ओर विशेष दृष्टि न देने का कारण रंगशाला की कमी थी। उर्दू नाटकों के अभिनय का प्रबंध पहिले हो चुका था और इसीलिए उसमें थिएट्रिकल नाटकों की रचना खूब हुई। वाजिदअली शाह ने पहिले पहिल अमानत कृत इंदरसभा का अभिनय कराया था। इसके लिए भाँड़ (नक्काल), बहुरूपिए, स्वाँग आदि बनते थे। रासलीला को उर्दू भक्तों ने रहसलीला शब्द से याद किया है और उस लीला को करनेवालों को भगतबाज कहा है। लुगत में इसका ऐसा घृणित अर्थ दिया गया है कि उसका लिखना भी अक्षम्य है। इंदरसभा के अभिनय के बाद पेस्टनजी पारसी ने 'ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी' खोली, जिसमें उर्दू भाषा के नाटक खेले जाते थे। इसके अनंतर क्रमशः कई कंपनियाँ खुलीं पर सब में उर्दू ही का दौरा-दौर था। इनमें खेले जानेवाले नाटकों के कथावस्तु प्रायः फारसी कथानकों से लिए जाते थे। संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी खेले गए थे। जिनकी अच्छी आलोचना भारतेंदु जी ने 'नाटक' में की है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में व्याकुल-भारत कंपनी खुली, जिसमें हिंदी के नाटकों के अभिनय होने लगे। परंतु यह कंपनी थोड़े ही दिनों में प्रसिद्धि प्राप्त कर बंद हो गई। इसके द्वारा भारतीय कथानकों को लेकर थिएट्रिकल्स लिखने को अच्छा प्रोत्साहन मिला। इसके बाद अब तक कोई भी अच्छी कंपनी हिंदी नाटकों

के लिए नहीं खुली। इन कंपनियों के संचालक प्रायः पारसी होते हैं, जो हिंदी के प्रेमी नहीं हैं। साधारण प्राइवेट मंडलियों द्वारा जो कुछ प्रोत्साहन नाटक-रचना को भारतेंदु काल से मिलता आ रहा है, वही बहुत समझा जा रहा है। अब फिल्म कंपनियों की टॉकियों से कभी-कभी हिंदी की 'सदा' आने लगी है।

पत्र-पत्रिका

भारतेंदु-उदय के साथ-साथ हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रचार प्रचुरता से बढ़ने लगा। इनके पहिले के जिन प्राचीनतम पत्रों का पता मिला है, उनमें दो कलकत्ते से प्रकाशित हुए थे। पहिला 'उदंत-मार्तंड' था, जो ३० मई सन् १८२६ ई० को शुरू हुआ और डेढ़ वर्ष चलकर ४ दिसम्बर सन् १८२७ को बंद हो गया। इसके बाद ६ मई सन् १८२६ ई० को राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत' नामक एक पत्र निकाला, जो शीघ्र ही बंद हो गया। इन दोनों की भाषा में बंगला का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इनके प्रायः बीस वर्ष बाद काशी से सं० १६०२ वि० में 'बनारस अखबार' निकला, जो राजा शिवप्रसाद के उद्योग का फल था। इसकी भाषा में उर्दू का पुट अधिक रहता था। यहीं से सं० १६०७ वि० में तारामोहन मित्र ने कई सज्जनों की सहायता से 'सुधाकर' नामक पत्र निकाला। इसकी भाषा हिंदी थी। इसके दो वर्ष बाद आगरे से हिंदी गद्य-प्रतिष्ठापकों से भिन्न अन्य सदासुख लाल ने 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र निकाला, जो कई वर्ष

तक चलता रहा था । इसकी भाषा शुद्ध हिंदी थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी काफी था ।

सं० १६२४ वि० के भाद्रपद में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने पहिली साहित्यिक मासिकपत्रिका कवि-वचन-मुधा प्रकाशित की, जो वाद को साप्ताहिक तथा बड़े आकार की हो गई । इसमें गद्य-पद्य दोनों रहते थे तथा राजनीति, समाज, धर्म आदि सभी विषयों पर लेख दिये जाते थे । कुछ समाचार भी संकलित रहते थे । इस पत्र को भारतेन्दु जी ने कुछ वर्षों के बाद एक महाराष्ट्र सज्जन को उनके आग्रह पर दे दिया था, परंतु वह किसी प्रकार कुछ दिन चलता रहा और जन्मदाता के साथ साथ चल बसा । सं० १६३० में भारतेन्दु जी ने हरिश्चंद्र-मैगजीन मासिक-पत्र निकाला, जो आठ संख्याओं के बाद हरिश्चंद्र-चंद्रिका नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसमें कुछ पृष्ठ अंग्रेजी के भी रहते थे । इसमें साहित्यिक लेखों के साथ कुछ अलभ्य काव्य-ग्रंथ आदि भी प्रकाशित होते थे । आठ वर्ष हिंदी प्रेमियों का मनोरंजन कर वह पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के आग्रह से उनके हाथ जाकर सं० १६३७ में “हरिश्चंद्रचंद्रिका तथा मोहनचंद्रिका” हो गई और सं० १६३८ में काशी से श्रीनाथ जी जाकर उन्हीं के चरणों में लीन हो गई । सन् १८८४ ई० में “नवोदिता हरिश्चंद्र-चंद्रिका” नाम से छोटे आकार में यह पुनः प्रकाशित की गई पर स्वयं भारतेन्दु जी दो ही संख्या निकाल कर चल बसे । इसका तीसरा अंक इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित होकर रह गया । बालाबोधिनी नामक त्रिविध मासिक-पत्रिका

को सन् १८७४ ई० के जनवरी से भारतेंदु जी ने निकालना आरंभ किया था। यह पत्रिका भी चार वर्ष चलकर बंद हो गई।

भारतेंदु जी के मित्रों तथा समकालीन सज्जनों ने भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं। पं० प्रतापनारायण मिश्र का “ब्राह्मण” पं० बद्रीनारायण चौधरी की ‘आनंद कादंबिनी’ तथा ‘नागरी-नीरद’, पं० बालकृष्ण भट्ट का ‘हिंदी-प्रदीप’, लाला श्रीनिवासदास का ‘सदादर्श’, गो० राधाचरण जी का ‘भारतेंदु’ इत्यादि साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। कलकत्ते से बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री के उद्योग से सं० १६२८ में ‘हिंदीदीप्तिप्रकाश’ पत्र तथा ‘प्रेमविलासिनी’ पत्रिका निकलीं। इनके काफी प्रयत्न करने पर भी यह पत्र कुछ दिन चलकर बंद हो गया। सं० १६३४ में वहीं से ‘भारत-मित्र’ निकला, जो अब तक चल रहा है। दूसरे वर्ष भारतमित्र-समिति से अलग होकर पं० सदानंद मिश्र ने ‘सारसुधानिधि’ तथा पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने ‘उचितवक्ता’ पत्रों का प्रकाशन आरंभ किया। इन सब पत्रों ने हिंदी-हित-साधन अच्छी प्रकार किया था।

सं० १६२८ में अल्मोड़ा अखबार, सं० १६२९ में पं० केशव-राम भट्ट ने बिहार बंधु, अलीगढ़ से बाबू तोताराम ने सं० १६३३ में भारत बंधु, सं० १६३४ में लाहौर से मित्रविलास, उदयपुर से सं० १६३६ में सज्जन-कीर्ति-सुधाकर आदि पत्र दूर-दूर स्थानों से, यहाँ तक कि सं० १६४० में इंग्लैंड से हिंदोस्थान हिंदी में निकलने लगे। अंतिम में अंग्रेजी अंश भी काफी रहता था। ये सभी पत्र अत्यंत उपयोगी तथा हिंदी के प्रसार में सहायक हुए।

काशी से सं० १६३३ वि० में बाबू बालेश्वरप्रसाद बी० ए० के संपादकत्व में काशी-पत्रिका निकली। सं० १६४१ वि० में बाबू रामकृष्ण वर्मा ने भारतजीवन पत्र निकाला, जो अब बंद हो गया है। इसका नामकरण भारतेन्दु जी ने स्वयं किया था। पं० देवकी-नंदन त्रिपाठी का प्रयाग-समाचार इसके पहिले ही निकलने लगा था, जिसे पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा वैद्य को सौंपने के बाद त्रिपाठी जी ने एक नाट्य-पत्र निकालना आरंभ किया। यह दो-तीन वर्ष चलकर बंद हो गया।

ईसवी बीसवीं शताब्दी के साथ-साथ अनेक पत्र-पत्रिकाओं के दर्शन हुए, जिनमें प्रधान सरस्वती पत्रिका है, जिसका जन्म काशी नागरी प्रचारिणी सभा की तत्वावधानता में हुआ था और जो आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की छाया में पुष्ट होकर अब स्वतः प्रचरित हो रही है। इसके द्वारा आचार्यवर ने हिंदी भाषा का जो परिमार्जन और सुसंगठन किया था वह चिरस्मरणीय रहेगा। साथ ही जिस प्रेस से यह पत्रिका निकल रही है, उस इंडियन प्रेस द्वारा हिंदी के प्रचार तथा साहित्य-निर्माण को बहुत कुछ सहायता मिली है। इस पत्रिका के साथ-साथ संस्कृत के विद्वान् पं० चंद्रधर गुलेरी बी० ए० के संपादकत्व में भगवन्-पत्र निकला, जिनमें उनके गहन विषय के मनोरंजक लेख प्रकाशित होते थे।

सरस्वती के जन्म के बाद कमला, इंदु, औदुंबर साहित्य-ममालोचक, मनोरमा, मर्यादा आदि अनेक साहित्यिक पत्र निकले

और बंद हुए। वर्तमान साहित्यिक पत्रिकाओं में माधुरी, सुधा, वीणा, विशाल-भारत आदि प्रमुख हैं। माधुरी नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित होती है, जिसने उर्दू फारसी के लिए विशेष कार्य किया है पर हिंदी पर भी पहिले से अब इसकी अधिक कृपादृष्टि रहने लगी है। इसी प्रेस से पहिले अवध-समाचार प्रकाशित हुआ था। संयुक्त प्रांत की सरकार ने हिंदी-उर्दू भाषाओं को प्रोत्साहन देने के लिए एक संस्था हिंदोस्तानी-एकेडमी स्थापित की है, जिसकी मुख-पत्रिका 'हिंदुस्तानी' में गंभीर विषयों पर लेख रहते हैं।

अन्य विषय

हिंदी में इतिहास के साधन रूप में वीरगाथा-काल के तथा बाद के कुछ ग्रंथ मिलते हैं, पर ये सब पद्य में हैं, गद्य में एक भी नहीं है। मुसल्मान-राजत्वकाल में जब बाद-इतिहास, जीवनचरित शाहों के आश्रित इतिहास-लेखकगण भारत का तथा पुरावृत्त इतिहास लिखने लगे, तब यहाँ का प्राचीन तथा समकालीन इतर स्थानों और राजवंशों का भी वृत्त जानना आवश्यक हुआ। ऐसी अवस्था में इस प्रोत्साहन से तथा इसे देखकर भारतीय राजवंशों ने भी अपने आश्रित कवियों तथा लेखकों से ऐसे इतिवृत्त लिखवाना आरंभ किया। इनके आश्रित चारणों, भाटों आदि ने बहुत सी ख्यातें तैयार कीं, जिनमें लंबी वंशावलियाँ दी गई हैं, कुछ मनोरंजक बातें भी समाविष्ट कर दी गई हैं और सामयिक बातों पर भी प्रकाश डाला गया है।

ऐसी ख्यातों में मुहणोत नैणसी की ख्यात प्रसिद्ध है। ये सब राजस्थानी भाषा में हैं। हिंदी में सबसे पहिले राजा शिवप्रसाद ने गिरांग-गिभिग-गागाक प्रकाशित किया। उसके बाद भारतेन्दु जी ने इतिहास के प्राचीन, मध्य तथा वर्तमान तीनों काल पर पुस्तकें लिखीं। जीवनचरित्र भी लिखे तथा पुरावृत्त का श्रीगणेश भी किया। भारतेन्दु जी के एक मित्र कैलाशनाथ शुक्ल ने दिग्विजय-दिनेश सन् १८६४ ई० में लिखा था। स्कूलों के लिए इतिहास की गद्य-पुस्तकें भी इस समय तक तैयार हो चुकी थीं। पर उर्दू में इतिहास पर जितने अधिक तथा विशद ग्रंथ उस समय तक लिखे जा चुके थे उतने स्यात् हिंदी में अभी तक तैयार नहीं हो पाए हैं।

बीसवीं ईसवी शताब्दी के आरंभ के साथ मुंशी देवीप्रसाद जी तथा रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की प्रसिद्धि फैली। प्रथम महाशय उर्दू-फारसी तथा मुगल-राजत्वकाल के इतिहास के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने फारसी की कई तवारीखों का संक्षिप्त अनुवाद लिखा है। आपकी मृत्यु सं० १६८० वि० में हुई। ओझा जी पुरावृत्त तथा राजस्थान के इतिहास के पारगामी विद्वान् हैं। आपकी रचनाएँ अमूल्य हैं, जिनका अध्ययन विद्वानों की ज्ञानवृद्धि करता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के दो-तीन ग्रंथमालाओं द्वारा कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाशित कर कई सज्जनों ने इतिहास की सेवा की है। पं० विश्वेश्वरनाथ रेड्, बा० रामना-रायण दूगड़ आदि अनेक सज्जन इस विषय की पुस्तकें लिखने में दत्तचित्त हैं।

समालोचना का आरंभ भारतेंदु जी के काल ही में हो गया था। प्रेमघन जी ने 'संगीत' तथा लाला श्रीनिवासदास के नाटक संयोगता स्वयंवर की अच्छी खासी आलोचना कर समालोचना डाली थी। पंडित मदनमोहन मालवीय जी द्विवेदी ने सरस्वती में संस्कृत तथा हिंदी के कतिपय कवियों की आलोचनाएँ लिखकर इसका मार्ग प्रशस्त किया। मिश्रबंधु ने हिंदी-नवरत्न तथा विनोद में हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों की अच्छी पर संक्षिप्त आलोचनाएँ प्रकाशित कीं। इनके अनंतर राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए०, पं० कृष्णविहारी मिश्र तथा पं० पद्ममिहरी शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम दो गंभीर आलोचक हैं और तीसरे महोदय की आलोचना-शैली उर्दू ढंग की चटपटी तथा व्यंग्यमयी है। वर्तमानकाल के प्रमुख समालोचकों में पं० रामचंद्र शुक्ल का अच्छा स्थान है। तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि पर आपकी विस्तृत आलोचनाएँ विद्वतापूर्ण हैं। गुण-दोष विवेचन के साथ प्रत्येक कवियों की निजी विशेषताओं पर भी पूरा प्रकाश डाला गया है। कवियों की मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उनका उनकी कविता से सामंजस्य दिखलाया गया है। तुलनात्मक समालोचना का भी अच्छा प्रचार है, पर यह कुछ अंश ही तक क्षम्य है। आलोचनात्मक साहित्यिक जीवन-चरित्रों की अभी हिंदी में बिलकुल कमी है। बाबू शिवनंदनसहाय जी का भारतेंदु जी का जीवनचरित अच्छा बन पड़ा है।

निबंध एक महत्वपूर्ण विषय है पर इस ओर हिंदी में बहुत कम ध्यान दिया गया है। कुछ आलोचनात्मक निबंधों के सिवा जो अन्य निबंध लिखे गए हैं वे उच्च कोटि के निबंध नहीं हुए। भारतेंदु जी के समय ही से निबंध लिखे जाने लगे। किसी घटना, यात्रा, त्यौहार आदि पर वर्णनात्मक निबंध काफी लिखे गए, जिनमें भावों का भी अच्छा विधान है। इसके अनंतर द्विवेदीजी ने बेकन-विचार-रत्नावली अंग्रेजी से तथा पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने निबंध-मालादर्श मराठी से अनुवाद किए। पं० माधवप्रसाद मिश्र तथा सरदार पूर्णसिंह के कुछ निबंध इसी समय प्रकाशित हुए। बाबू बालमुकुंद गुप्त के निबंध सामयिक तथा मनोरंजक हुए। बाबू गुलाबराय एम० ए० तथा बाबू कन्नोमल के निबंध भी विचार-मक हैं। बाबू श्यामसुंदरदासजी के भाषाविज्ञान तथा साहित्या-लोचन दो शिक्षोपयोगी ग्रंथ हैं। हिंदी-कोविद-रत्नमाला में अस्सी लेखकों के जीवन-वृत्त दिए गए हैं। निबंधों के क्षेत्र में पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपना विशिष्ट स्थान बना रखा है। मनोवेगों पर आपके कई अच्छे लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इनके निबंधों का एक संग्रह 'विचार वीथी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

इस एक शब्द से अनेक विषयों का बोध होता है। इन सब पर अलग-अलग ग्रंथ बहुत कम लिखे गए हैं। कितने ऐसे विषय भी होंगे जिन पर एक भी न मिल सके। भूगोल, भौतिक विज्ञान, रसायन आदि पर स्कूलों के

योग्य पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, उच्च कोटि की पुस्तकें इन विषयों पर भी नहीं के समान हैं । तर्कशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि पर कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं । ज्योतिष, वैद्यक, धात्री-विद्या, शिशुपालन विषयों पर अब ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, जिनके अध्ययन से पाठक लाभ उठा सकते हैं । भूगर्भ शास्त्र, जंतु-विज्ञान आदि कितने आवश्यक विषयों पर अभी अच्छी पुस्तकों की बहुत कमी है ।

हिंदुस्तानी भाषा के कोष तथा व्याकरण के लिखने की आवश्यकता नवागंतुक यूरोपियनों को भारत से संबंध स्थापित हो जाने पर यहाँ की भाषाएँ जानने के लिए पड़ी कोष तथा व्याकरण और इसलिए वे ही इनकी रचना में अग्रसर हुए । एक डच राजदूत जौन जोशुआ केटलिअर ने सन् १७१५ ई० में एक व्याकरण तथा उसके बाद एक कोष लिखा । सन् १७४४ ई० में शुल्ज ने एक व्याकरण लिखा और इसके चार वर्ष बाद जे० एफ० फ्रिट्ज ने लिपियों पर एक पुस्तक लिखी । सन् १७६१ ई० में कैसिआनो बेलागैट्टी का एल्फाबेटम ब्राह्मनिकम प्रकाशित हुआ । सन् १७७३ ई० में फर्गूसन नाम के किसी सज्जन ने हिंदुस्तानी-अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-हिंदुस्तानी कोष तैयार किया । इसके अनंतर हेनरी हैरिस तथा कैप्टेन टेलर और डाक्टर हंटर के दो कोष निकले । डा० गिलक्राइस्ट तथा जौन शेक्स-पियर ने अलग-अलग कोष तथा व्याकरण लिखे । इस प्रकार के कोषकारों तथा व्याकरण-लेखकों में एम० टी० एडम, डंकन

फोर्ब्स, फैलों, सर विलिअम जोन्स, जे० टी० प्लाट्स, जे० डी० बेट आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। हिंदुस्तानी कोषों में मधुसूदन निघंटु, विवेक कोष, हिंदी कोष, मंगल कोष, शब्द पारिजात आदि मुख्य हैं। ना० प्र० सभा काशी ने लगभग बीस वर्ष के प्रयास पर जो शब्दसागर तैयार कराया है वह सबसे अधिक विशद तथा उपयोगी हुआ है। हिंदी में बालकोपयोगी छोटे-छोटे व्याकरण अनेक लिखे गए और सभा ने एक विशद व्याकरण एक समिति की तत्वावधानता में पंडित कामताप्रसाद गुरु से लिखवा कर प्रकाशित किया है।

काव्यकला के प्रायः किसी अंग पर भी हिंदी गद्य में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई है। रीतिकाल के अंतर्गत जिन ग्रंथों का उल्लेख हो चुका है, वे सब पद्य में हैं तथा एक-रीति ग्रंथ एक अंग पर विशेष रूप से लिखे गए हैं। ऐसे ग्रंथों की अधिकता होने पर भी काव्य के सभी अंगों की विवेचना नहीं हुई है। आधुनिक काल के लेखकों में भी इस विषय पर कविता ही में लिखने की धुन समाई है, जिसके पठन-पाठन से काव्य के सर्वांग का ज्ञान दुर्लभ है। बाबू जगन्नाथ-प्रसाद 'भानु' के छंद-प्रभाकर तथा काव्य-प्रभाकर विशद ग्रंथ हैं। लाला भगवानदीन का अलंकार-मंजूषा भी अच्छा ग्रंथ है पर ये सब पद्य के फंदे में पड़ गए हैं। गद्य में इन सबको लिखने से सभी को समझना सुगम हो जायगा। संस्कृत में सभी काव्यांगों पर पूरी विवेचना प्रसिद्ध आचार्यों ने की है, जिनके कुछ ग्रंथों का

अनुवाद हिंदी में वांछनीय है। प्राचीन आचार्यों में केवल दंडी के काव्यादर्श का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। बाद के आचार्यों में जयदेव के चंद्रालोक, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण तथा जगन्नाथ के रसगंगाधर के अनुवाद छप चुके हैं। इन ग्रंथों के मनन से गद्य में लिखे गए लक्षण-ग्रंथ विशेष उपादेय होंगे।

वर्तमानकाल में कानून का संसार भर में दौरादौर है। शक्तिमान निर्बल पर इसी की ओट में चोट करता है और तब भी

अपने को न्यायसंगत सिद्ध करता है। ऐसी

कानून

अवस्था में कानून का जानना अत्यंत आवश्यक है। हिंदी में कुछ दिनों से कानून की कुछ पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं तथा भारत सरकार भी कुछ एक्टों के हिंदी तथा उर्दू संस्करण प्रकाशित करती है, जिनकी ग्रामीणों में बिक्री काफी होती है। हिंदी में एक कानूनी पत्रिका भी निकलती है। यह सब होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि हिंदी में कानून की पुस्तकें नहीं के समान हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा प्रायः समग्र भारत के हिंदुओं के उत्तराधिकार, दत्तक आदि विषयों के लिए सर्वमान्य है पर उसकी एक भी अच्छी टीका हिंदी में नहीं है। अन्य स्मृतियों के भी अनुवाद हो जायँ तो अधिकस्य अधिक फलम्।

इनके सिवा अनेक विषय हैं जिन पर हिंदी में पुस्तकों का होना हिंदी-भाषी के उन्नयन ही नहीं जीवन के लिए आवश्यक हैं। वर्तमान संसार की प्रगति पर दृष्टि रखते हुए जो-जो नए

आविष्कार आदि हो रहे हैं, उन पर पुस्तकों का भी साथ-साथ निकलना जरूरी है। हिंदी हिंदू मात्र की संपत्ति है, इसलिए हिंदू तथा हिंदुस्थान की उन्नति के लिए जिस किसी बात की आवश्यकता समझी जाय वह सभी हिंदी में आ जानी चाहिए। यहाँ हिंदू शब्द धार्मिक नहीं है, देशीय है। हिंद में पैदा होने वाला हिंदू है, चाहे वह अपनी मातृभूमि से घृणा कर अपने को हिंदू कहने में संकोच करे या न करे।



अनुक्रम



अ	अलिफलैला—	आ
अंबिकादत्त व्यास— १२०, १२७, १६६, १८६	आजमशाह— १३६	
अंबिका प्रसाद— १८३	आर्या— १८७	
अकबर— ८५-६	आलम— ५४-५५	
अकरमफैज— ३०	आलम— १०५	
अक्षर अनन्य— ४६	आलमगीर— १३६	
अग्रदास— ६८-६	इ	
अनन्य दास— ३१	इंडियन प्रेस— १६३	
अनूप शर्मा— १४७	इंशाअल्ला खॉं— १३७-८	
अब्दुरहीम खानखाना— ६४, ८५-६	१५२, १५६-७, १७६	
६३, १३५-६	इब्राहिम आदिलशाह— १३५	
अब्दुल् कादिर बदायूनी— १७१	ई	
अमानत— १८६	ईश्वरीप्रसाद शर्मा— १८०, १८२	
अमानसिंह गोटिया— १८६	ईसाई प्रयास— १५६-६०	
अमृतलाल— १८२	उ	
अमीरहमजा— १७५	उदितनारायणलाल— १७६, १८६	
अयोध्याप्रसाद खत्री— १४३	उमाम्बा— १३२	
अयोध्यासिंह उपाध्याय— १२१, १४३-४, १७६, १८६	उसमान— ५५-६	
अलबेली अली— ८४	ए	
	एकनाथ जी— १३४	

ओ		कुंभनदास—	७६-८०
ओंकार भट्ट	१६०	कुतुब भली—	२८, ३०
क		कुतबन—	४६-५०
कदरपिया—	१४०	कुलपति मिश्र—	१००, १३६
कन्ह—	१८	कृपाराम—	८५, ६२
कन्नोमल—	१६७	कृष्णमुनि—	१३४
कबीरदास—	३८-४२, १३३-४	कृष्णचंद्र—	१८८
कमलाचरण मिश्र—	१८६	कृष्ण चैतन्य महाप्रभु—	३६-७, ७१
कमाल—	४१, ४४		८२
कमाली—	४१	कृष्णदास—	६८, ७६-८०
कर्णेश—	६३	कृष्णदेवशरणसिंह—	१८६
कर्वींद्र—	१०२	कृष्णविहारी मिश्र—	१६६
कादिर—	८८	केटलिभर, जौन जोशुआ—	१६८
कान्होबा—	१३४	केदार—	२७
कार्तिकप्रसाद खत्री—	१६६, १७८	केशवदास—	१०, ७०, ८५, ६३-४
	१८७, १६२	केशवराम भट्ट—	१६६, १८६,
कामताप्रसाद गुरु—	१६६		१६२
कारेखाँ—	१३८	कैरे, डा० विलिभम—	१५६-६०
कालिदास त्रिवेदी—	१०२	कैलाशनाथ शुक्ल—	१६५
काशीनाथ—	१६६	ख	
काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा—		खड्ग बहादुर मल्ल—	१८६
	१७१-२, १६५, १६६	खुसरो—	२८-३०, १३२
काशीराम	५८	ग	
कासिमशाह—	५७	गंग—	८७
किशोरीलाल गोस्वामी—	१८१-२	गंगाभाट—	१५१
	१८७	गंगाप्रसाद अग्निहोत्री—	१६७

गंगाप्रसाद गुप्त—	१८०
गणेश—	११७, १८४
गदाधर भट्ट—	७१, ८२
गदाधरभट्ट मालवीय—	१८६
गदाधरसिंह	१६६, १७७
गयाप्रसाद शुक्ल—	१२८, १४६
गरीब नाथ—	१३२
गहनी नाथ—	१३१-२
गिरिधरदास—	१०४, ११४, १८४
गिरिधर राय—	१०४
गिरिधर शर्मा—	१४७
गिलक्राइस्ट, डा०	१५४-५, १६८
गुमान मिश्र—	१०६
गुरुभक्तसिंह	१४७
गुलाब—	११७
गुलाब राय—	१६७
गोकुलनाथजी गोस्वामी—	१५०
गोकुलनाथ शर्मा—	१७६
गोकुलनाथ—	११०-११
गोपालराम गहमरी—	१८०, १८२, १८७
गोपालशरणसिंह—	१४७
गोपीचंद भरथरी—	१७६
गोपीनाथ—	११०-११
गोपीनाथ, पुरोहित—	१८७
गोविंद गिल्लाभाई—	११८

गोविंदवल्लभ पंत—	१८६
गोविंद स्वामी—	८०
गोविंदसिंह, गुरु—	१०५-६
गोरखनाथ—	४३, १३१-२, १५०
गोरेलाल पुरोहित—	१०६
गौरीदत्त—	१६१, १७१, १७७
गौरीशंकर हीराचंद ओझा—	१६५
ज्ञानेश्वर—	१३१-२
घ	
घनानंद—	१०४, १०६-०७, १३६
घाघ—	१०४
च	
चंद	२४-२७
चंद्रधर गुलेरी—	१६३
चंद्रशेखर वाजपेयी—	११२-३
चतुर्भुजदास—	८०
चतुर्मुकुट की कथा—	५७
चरपटनाथ—	१३२
चिंतामणि—	६४-५
चुणकरनाथ—	१३२
चैतन्य महाप्रभु—	३६-७, ७१, ८२
चैतन्य चरित्रसार—	१५१
छ	
छत्रसिंह—	१०५
छीत स्वामी—	८०
छीहल	८८

ज	ड
जगजीवन साहब— ४६	डोम्भी १८
जगनिक— २७-८	त
जगन्नाथ प्रसाद भानु— १६६	ताज— १३६
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी— १७६	तानसेन— ८२, १३६
जगन्नाथ प्रसाद वैद्य— १६३	तानतरंगसेन— १३६
जगमोहनसिंह, ठाकुर— १२०, १२७	तारा मोहन मित्र— १८६
१६८	तिलपाद प्रज्ञाभद्र १८
जटमल— १५१, १७६	तुकनगिरि— १४०
जटाशंकर— ६४, ६६	तुकाराम— १३४
जनी जर्नादन— १३४	तुलसीदास— ८-६, ६२-८
जयराम दास— १८१	तुलसी साहब— ४६, १३३
जयवंत— १३४	तोताराम— १६६, १८६, १६२
जयशंकर प्रसाद— १२८, १४८	तोषनिधि— १०१
१८२, १८८	तोता कहानी— १७६
जल्हन— २४	त्रिया चरित— १७६
जसवंतसिंह, महाराज— ६७, १०४	द
जायसी— ८-६, ३६, ५१-५४	दयानंद सरस्वती— १६१
जीव स्वामी— ८२	दयालदास— २७
जैनेन्द्र किशोर— १८०	दयालसिंह ठाकुर— १८६
जोधराज १०८	दरिया साहब— १३३
जोन्स, सर विलिभम— १६६	दलपति-विजय— २३
ट	दाऊद, मुल्ला— १३२
टेलर, प्रो०— १५५, १६६	दादूदयाल— ४४-४५
टोडरमल, राजा— ८६-७, १३५-६	दामो— ५८
ठ	दामोदर— १३२
ठाकुर ११२	

हामोदर शास्त्री—	१८	न	
दास—	६६, १००	नंददास—	७७, १५०
दीनदयाल गिरि—	११३	नजीर—	१३८-६
दीनदरवेश—	१३८	नबी, शोख—	५६-७
दुर्गाप्रसाद मिश्र—	१६२	नरपति नाह—	२३-४
दूलमदास—	१३३	नरहरि बंदीजन—	८६, ६३
दूलह—	१०२	नरोत्तमदास—	८८
देव—	६८-१००, १८४	नलसिंह—	३०
देवकीनंदन खत्री—	१८१-२	नवनीत चतुर्वेदी—	११६
देवकीनंदन त्रिपाठी—	१८६, १६३	नवलकिशोर प्रेस—	१६४
देवलनाथ—	१३२	नवीनचंद्र राय—	१६१
देवसेन—	१८	नसरती—	१३५
देवीप्रसाद पूर्ण—	१२२, १२८, १४६, १८७	नागरीदास—	७२, ८४, १०७-८
देवीप्रसाद मुंसिफ—	१६५	नाडपाद—	१६
देवीप्रसाद शर्मा—	१८६	नाथ स्वामी—	१३४
देवीसहाय—	१४०	नाथूराम शंकर—	१२८, १४५-६
देवीसिंह—	१४१	नानक—	३८, ४२-४, १०५, १३३
दौलतराव सींधिया—	१३५	नानूराम—	२६
द्विजदेव—	११४	नाभादास—	६४, ६६-७०
		नामदेव—	१३३
		निंबार्काचार्य—	७१-२
ध		निपट निरंजन—	१३३
धर्मदास—	४१	निरंजन—	१३४
धर्मसूरि जैन—	३१	निवृत्तिनाथ—	१३१
ध्रुवदास—	८४	निसारबख्त—	५७
धृषलीमल—	१३२	नीलकण्ठ—	६६

नूर महम्मद—	५७
नेवाज—	१८३
प	
पजनेस—	११३
परसिंह शर्मा—	१६६
पन्नाकर—	१०२-३
परमानंददास—	७८-७९
पल्लूदास—	४६, १३३
पार्वतीनंदन, लाला—	१८०
पुष्प—	१८, ३०
पुहकर—	५८
पूर्णसिंह, सरदार—	१६७
पृथ्वीनाथ—	१३२
प्रतापनारायण मिश्र—	१२०, १२७, १६७, १७१, १७८, १८५, १८२
प्रतापसाहि—	१०३
प्रतापसिंह, महाराज—	११४
प्रभावती—	१८३
प्राणचंद चौहान—	७०
प्रियादास—	६९
प्रेमचंद—	५८, २००
प्रेमदास	८१
प्रेमरंग—	१३६
पेस्टनजी पारसी—	१८६
प्लाट्स, जे० टी०—	१६६
फ	
फर्गुसन—	१६८

फाजिलशाह—	५७
फैलों—	१६६
फोर्ब्स, डंकन—	१६६
फ्रिटज, जे० एफ०—	१६८
व	
बद्रीनाथ भट्ट—	१८६
बद्रीनारायण चौधरी—	१२०, १२७, १६६, १८५, १८२, १६६
बद्रीलाल शर्मा—	१६०
बनवारी—	१०३
बनारसी—	१४१
बनारसीदास—	८८
बनीठनीजी—	१०७
बयाबाई—	१३४
बलदेवप्रसाद मिश्र—	१७६
बलभद्रमिश्र—	८५, ६३
बहादुर शाह—	१३६
बालकराम	१३४
बालकृष्ण भट्ट—	१६६, १७७, १८६, १६२
बालमुकुंद गुप्त—	१६७
बालनाथ—	१३२
बालेश्वर प्रसाद—	१८६, १६३
बिहारीलाल—	६७-८
बीरबल	८६-७
बेट, जे० डी०—	१६८

बेनी—	१०२
बेनी प्रवीन—	१०२
बेलागैट्टी, कैसिभानो—	१६८
बेले, डा० टी० प्रेहेम—	१४६
बोधो—	१११

भ

भगवत रसिक—	८५
भगवानदीन, लाला—	१४७, १६६
भारतेंदु—	१२, ८५, ११५, १२०, १२३, १२६-७, १४०, १६२-६, १७७-८, १८५, १६१-२, १६५-६
भिखारीदास—	१००-१
भीमसेन शर्मा—	१६६
भुवाल—	३१
भूधरदास—	१३७
भूषण—	६४-६, १३४
भूसुर—	१८

म

मंक्षन—	५०-१
मंसाराम—	१३६
मणिदेव—	११०-११
मतिराम—	६४, ६६
मथुराप्रसाद चौधरी—	१८५
मदनमोहन पाठक—	१८१
मदनमोहन मालवीय—	१७२
मधुसूदन—	१११-२

मधुकर—	२७
मध्वाचार्य—	३५, ७१
मन्नन द्विवेदी—	१४७
मनोहर—	८७
मल्लकदास—	४६, १३३
मल्लिका—	१७८
महावीर प्रसाद द्विवेदी—	१२८, १४४, १६६
महादजी सींधिया—	१३५
माखनलाल चतुर्वेदी—	१४७
माधवप्रसाद मिश्र—	१६७
मानसिंह	६४
मीराबाई—	८३-४
मुक्ताबाई—	१३१-२
मुबारक—	८८
मुहम्मद कुतुबशाह—	१३५
मुहम्मद कुलीकुतुबशाह—	१३५
मुहम्मदशाह रँगिले—	५७, १३६
मृगेंद्रकवि—	५८
मेरुगुंग—	२०
मैथिलीशरण गुप्त—	७०, १४४-५
मोहनदास—	५८
मोहनलाल द्विज	३१
मोहनलाल मिश्र—	६२
मोहनलाल विष्णुलाल, पंड्या—	२५ १६८, १६०

मेरध्वज, संगीत—	१७६
य	
यशवंतसिंह, महाराज	६७
र	
रघुनाथ—	११०
रघुनाथदास	७०
रघुराजसिंह—	७०, ११६
रजबजी—	४५, १३३
रत्नाकर	१६
रत्नाकर, जगन्नाथदासजी—	११६-२०
रतनलाल—	१६०
रविदत्त शुक्ल—	१८६
रमनशाह, किरसा—	१७६
रसखान—	८४, १०३
रसरंग—	१३७
रसिक पीतम—	८५
रहीम—	६३, १३४-५
राधाकृष्णदास—	१७८, १८६
राधाचरण गोस्वामी—	१६६, १७८, १८७, १६२
राधास्वामी—	१३३
रामकृष्ण वर्मा—	१२१, १७८, १८६, १६३
रामचन्द्रशुक्ल—	१४६, १६६-७
रामचरण दास—	७०
रामचरित उपाध्याय—	१४४-५

रामदास, समर्थ—	१३३
रामनरेश त्रिपाठी	१४६-७
रामनारायण—	१४१
रामनारायण दूगढ़	१६४
राममोहनराय—	१६०
रामलाल वर्मा—	१८०
रामानंद—	३६, ३७, ५६, ६०-६१, ७१
रामानुजाचार्य—	३५-६, ५६-६२, ७१
राममल्ल पांडे—	७०
रिसालगिरि	१४१
रूपनारायण पांडेय—	१२८, १४७, १८०, १८८
ल	
लक्ष्मणसिंह, राजा—	११८, १६१, १८४-५
लछ्मनदास—	१४१
लछिराम—	११८
लज्जाराम मेहता—	१७६
ललितकिसोरी—	७१, ८३, ८५, ११७-८, १३६-४०
ललित माधुरी—	७१, ८३, ८५, ११७-८, १३६-४०
लल्लूलाल—	१४६, १५२, १५४, १७६
लाल—	१०६

कालचदास—	८८
लालू कवि—	११७
लुईपाद	१८
कोचनप्रसाद पांडेय—	१४४-५
लौकेट, कैप्टेन	१५५

व

वंशीभलि—	८४
वंशीधर—	१६१
वली—	१२, १३६
वल्लभाचार्य—	३६, ६७, ७१-२, ७८
वाजिदअली शाह—	१४०, १८६
विजयसेन सूरि—	३१
विनय चंद सूरि—	३१
विठ्ठलनाथजी	७२-३, ७८, ८०, १५०
विद्यापति—	७, २१, ३०
वियोगीहरि—	१२८
विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक—	१८१
विश्वनाथसिंह, महाराज	७०, १०७, २०१
विश्वेश्वर प्रसाद—	१८२
विश्वेश्वरनाथ रेऊ—	१६५
विष्णु स्वामी—	३६, ७१
वृंद—	१०४, १०५
वैताल भट्ट—	१०५
वृंदावनदास, चाचा हित—	८५, १०६

व्यासजी—	८३
व्रजजीवनदास—	१८८
व्रजनंदन सहाय—	१७६
व्रजवासीदास—	८५, ११०, १८४
व्रजनाथ—	१८६

श

शंकराचार्य—	१७, ३५, ५६
शंभाजी—	१३५
शबरपाद—	१८
शहरयार—	१३६
शार्ङ्गधर—	२०, १३२
शांतिपाद—	१६
शिक्षाप्रचार—	१५८-६
शिवनंदन सहाय—	१६६
शिवप्रसाद, राजा—	१६०-१ १६०, १६५
शिवाजी—	१३४
शीतलदास	देखिए सीतल
शीतलाप्रसाद त्रिपाठी—	१८६
शुक्रबहत्तरी—	१७६
शुल्ज—	१६८
शेक्सपियर, जौन—	१६८
शेख—	१०५
श्यामसुंदरदास—	१६६-७
श्रद्धाराम फुलौरी—	१६१-२, १७७

श्रीकंठ—	१२६
श्रीधर पाठक—	१२१, १२७
	१४२-३
श्रीधर या मुरलीधर—	१०६
श्रीनिवासदास—	१६७, १७४, १८५,
	१६२, १६६
श्रीभट्ट—	८४
श्रीलाल—	१६१

स

सत्यनारायण कविरत्न—	१२८, १८८
सदना—	१३३
सदल मिश्र—	१५२, १५६, १७६
सदानंद मिश्र—	१६२
सदासुखलाल—	१३७, १५२, १५६
सदासुखलाल—	१६०
सनदपिया—	१४०
सबलसिंह चौहान—	१०४-५
समयसार—	१८४
सरदार—	११६-७
सरह, सिद्धाचार्य सरोजवज्र—	१८
सहचरि शरण—	१३८
सादी, शेख—	१३५
साईदान—	३०
सावंतसिंह—	११६
सियाराम शरण—	१४७
सीतल—	७२, १३६-७

सीताराम, लाला—	१२१, १८७
सुंदरदास—	४५-६
सुंदरलाल, डा०—	१७१
सुखदेव मिश्र—	१००
सुदर्शन—	१८२
सुमित्रानंदनपंत—	१४८
सुरदेव, पंड्या—	१३८
सूदन—	११०, १३८
सूर्यकांत त्रिपाठी, निराला—	१४८
सूरदास—	२६, ६४, ७२-७
सूरदास मदनमोहन—	८२-३
सेनापति—	८७-८
सेवक—	११६
सोपान देव—	१३१
सोमनाथ—	१०१
सोमप्रभ सूरि	१६
सोहराबनाथ—	१३४

ह

हंटर, डा०—	१५५, १६८
हंसराज बख्शी—	१०८-९
हनुमंत—	१४१
हरदेवसिंह—	१४१-२
हरप्रसाद शास्त्री—	१८
हरराज—	५८
हरसेवक—	५८
हरिऔध—देखो अयोध्यासिंह	

हरिकृष्ण जौहर—	१८१-२	हिंदी साहित्य सम्मेलन	१७३
हरिंगटन, हर्बर्ट—	१५५	हिंदुस्तानी एक्केडेमी—	१६४
हरिदास—	७२, ८१-२	हीररांझा—	१४२, १७६
हरिनारायण	१४१	हृदयराम—	७०, १८३
हरिराय—	१५०	हेमचंद्र—	१६
हातिमताई—	१७६	हैरिस, हेनरी—	१६८
हाशिमी—	१३५	होलराय—	८७
हितहरिवंश—	७२, ८१, ८२		



श्री कमलमणि-ग्रंथमाला-कार्यालय द्वारा

प्रकाशित अन्य पुस्तकें

१. जरासंधबध महाकाव्य—यह हिंदी साहित्य का वीररस पूर्ण पहिला महाकाव्य है। मगधनरेश जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई, युद्ध आदि का इसमें विस्तृत वर्णन है। काव्य में यमक, अनुप्रास आदि की खूब बहार है। पाद टिप्पणियों से ग्रंथ की क्लिष्टता दूर कर दी गई है। यह रचना भारतेन्दुजी के पिता बा० गोपालचंद्र उपनाम गिरधर दासजी की है। सचित्र है और पृ० सं० २०० है। मूल्य सजिल्द १।) और अजिल्द का १।) है।

२. निमाई सन्यास नाटक—श्री महाप्रभु कृष्णचैतन्य के सन्यास-ग्रहण की घटना लेकर अमृतबाजार पत्रिका के भूतपूर्व संपादक श्री शिशिर कुमार घोष रचित नाटक का यह अनुवाद है। वैष्णव धर्म पर इसकी भूमिका में चालीस पृष्ठों का एक मार्मिक लेख दिया गया है। सचित्र और १८० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल ॥१) है।

३. चंद्रालोक—पीपूषवर्षी जयदेव कृत यह रचना हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित की गई है। इसमें कवि-जीवनी, श्लोक तथा पारिभाषिक शब्दानुक्रम भी दिए गए हैं। मू० ॥२)

४. इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी—इसमें इंशाअल्लाह खॉ की शिक्षाप्रद विस्तृत जीवनी, कुछ चुने हुए ग़ज़ल तथा यह कहानी दी गई है, जो हिंदी-गद्य-साहित्य की आरंभिक रचना है। इसका पाठ बहुत शुद्ध है। डेढ़ सौ पृष्ठों की पुस्तक का मू० ॥२)

५. सर हेनरी लॉरेंस—अफ़गान युद्ध में अंग्रेजी सेना के भयंकर नाश तथा उसके प्रतिशोध का, सिख राज्य के स्थापन तथा पतन, बड़े ग़दर आदि के दृश्य इसमें दिखलाए गए हैं। सचित्र छपाई अच्छे कागज़ पर मूल्य ॥॥)

६. हुमायूँ—सुप्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर के पिता का यह साक्ष्य जोब. चरित. दत्तकालीन इतिहास-ग्रंथों के आधार पर तैयार किया है। इसमें शेरशाह तथा सूरीवंश का भी संक्षिप्त विवरण दिया है। सचित्र अच्छी छपाई पृ० सं० १२० मूल्य ॥)

७. काव्यादर्श—यह सुप्रसिद्ध आचार्य दण्डी कृत अलंकार ग्रंथ है। मूल पाठ तथा अनुवाद दोनों साथ-साथ आमने-सामने पृष्ठों पर दिए गए हैं। भूमिका में कवि-परिचय, संस्कृत अलंकार शास्त्र का विकास तथा इतिहास का पूरा विवेचन संक्षेप में किया गया है। अंत में श्लोकानुक्रमणिका भी दी गई है। पृष्ठ संख्या २५० मूल्य १)

८. यशवंतसिंह तथा स्वातंत्र्य युद्ध—इस पुस्तक में जोधपुराधीश महाराज यशवंतसिंह का जीवनचरित है, जिससे मुगल सम्राट् औरंगजेब भी हृदय से कुढ़ता था पर कुछ कर नहीं सकता था। इनकी मृत्यु पर उसने इनका राज्य हड़प लिया था पर राठौर वीरों ने तीस वर्ष तक निरंतर युद्ध कर अपनी स्वतंत्रता पुनः स्थापित की थी। यही महाराज हिंदी साहित्य के प्रमुख अलंकार-ग्रंथ भाषाभूषण के रचेता हैं। सचित्र पृष्ठ सं० १४० मूल्य ॥)

९. हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ सं० २४० मूल्य १)

१०. सत्य हरिश्चंद्र—भारतेंदुजी कृत प्रसिद्ध नाटक है। बिस्तृत

भूमिका, शंका-समाधान, टीका तथा चित्र सहित पृष्ठ संख्या १२५ मूल्य १८)

११. उर्दू साहित्य का इतिहास—उर्दू भाषा तथा साहित्य के विकास का पूर्ण विवरण देते हुए वर्तमान काल तक का वृत्त दिया हुआ है। प्रत्येक कवि की आलोचनात्मक इतिवृत्ति दी गई है। ऐसा सुव्यवस्थित इतिहास उर्दू में भी मिलता है—सजिद, सचित्र पृष्ठ संख्या ३४५ मूल्य १॥)

१२. भारतेंदु सुधा—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की समग्र कविताएँ से चुनकर यह संग्रह तैयार किया गया है और इसकी एक विशेषता यह है कि यह सह-पठन-पाठन के काम में लाया जा सकता है। शब्दकोष, अंतर्कथा-अनुक्रम सहित, सचित्र, सजिद पृष्ठ संख्या २५० मूल्य १॥)

इस माला के संपादक श्रीयुत बाबू ब्रजरत्नदास

बी० ए०, एल-एल० बी० द्वारा

संपादित, अनूदित तथा संकलित अन्य पुस्तकें

खुसरो की हिंदी कविता—इसमें खुसरो की समग्र मुकरियाँ बुझौवल आदि संगृहीत हैं। मूल्य ॥)

प्रेमसागर—लल्लूलाल कृत, सन् १८१० और सन् १८४० की प्रतियों से मिलान कर पाठ शुद्ध किया गया है। मूल्य २॥)

तुलसी ग्रंथावली—तीन भाग—इसका पाठ अत्यंत शुद्ध तथा श्लेषरहित है। इसके अन्य दो संपादक प्रो० रामचंद्र शुक्ल तथा स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी हैं। मूल्य ६॥)

रहिमन विलास—रहीम की कविता का यह सबसे बड़ा संग्रह है। विस्तृत भूमिका तथा अंत में टिप्पणी दी गई है। सचित्र सजिल्द मू० १॥)

भ्रमर गीत—नंददासजी कृत पाद-टिप्पणी-युक्त है। मूल्य ३)

हुमायूँ नामा—बादशाह हुमायूँ की बहिन द्वारा लिखे गए फारसी हुमायूँ नामा का अविकल अनुवाद है। मूल्य १॥)

मुजान चरित्र—सूदन कवि कृत काव्य है। इसमें भरतपुर-नरेश रजमल जाट के युद्धों का वर्णन है। मूल्य २)

संक्षिप्त रामस्वयंवर—महाराज रघुराजसिंह कृत रामस्वयंवर का श्रेष्ठ संस्करण है। मूल्य १।)

मुद्राराक्षस—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र कृत। इसमें विशद भूमिका तथा टिप्पणी दी गई है। पृष्ठ संख्या ३२० मूल्य १)

भूषण ग्रंथावली—विशद भूमिका तथा टिप्पणी सहित सचित्र, सजिल्द, पुस्तक कागज तथा छपाई उत्तम। पृष्ठ संख्या ३७० मू० १॥)

३. आगिनि उमरा भाग १-२—मुगल दरबार के हिंदू सरदारों की वनियों का प्रथम भाग में संग्रह है। द्वितीय में मुसलमान सरदारों की वनियाँ हैं। सचित्र, सजिल्द, कागज छपाई उत्तम। पृष्ठ संख्या ६२० मूल्य ४) प्रत्येक भाग।

भाषा भूषण—राठौर-वीर महाराज यशवंत सिंह की कृति है। कार पर इतना संक्षिप्त तथा सुंदर ग्रंथ हिंदी साहित्य में दूसरा है। टिप्पणी में प्रत्येक अलंकार की व्याख्या की गई है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र—इसमें भारतेंदु जी की विस्तृत जीवनी,

आलोचना आदि दी गई हैं। लगभग बीस चित्र दिए गए हैं
डिमाई साइज, पृ० सं० ३६० मूल्य ५)

भारतेंदु ग्रंथावली—भाग २—इसमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी
की समग्र कविता का संग्रह है। अंत में प्रतीकानुक्रम दिया गया है
सचित्र तथा सजिल्द पृ० सं० १००० मू० ३)

भारतेंदु नाटकावली १-२ भाग—इसमें भारतेंदु बाबू हरिश्चं
जी के समग्र नाटकों का संग्रह है। शब्दकोष, अंतर्कथा, ऐतिहासिक
पुरुषों की जीवनी, नाटकों की विस्तृत आलोचना, संक्षिप्त जीवनी तथा
संस्कृत-मराठी आदि अन्य भाषाओं के अर्थ सभी दे दिए गए हैं
सचित्र तथा सजिल्द पृ० सं० १५०० मू० ६)

हिंदी नाट्य-साहित्य—इसमें हिंदी साहित्य में सभी नाटकों का
आलोचनात्मक इतिहास समयानुक्रम से दिया गया है। सचित्र, सजिल्द
पृ० सं० ३१५ मूल्य १।।।) रु० ।

मिलने का पता—

१. मैनेजर—श्रीकमलमणि ग्रंथमाला कार्याल
बुलानाला, काशी ।

२. हिंदी-साहित्य-कुटीर,
हाथीगली, काशी ।

